॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अवतरणिका—

श्रीभगवान्‌ने चौथे अध्यायके तैंतीसवें और चौंतीसवें श्लोकमें ज्ञानयोगकी श्रेष्ठता बताते हुए ज्ञानप्राप्तिके लिये प्रेरणा की। फिर ज्ञानकी महिमाका वर्णन किया। उसके बाद पाँचवें अध्यायके सोलहवें, सत्रहवें एवं चौबीसवेंसे छब्बीसवें श्लोकतक, छठे अध्यायके चौबीसवेंसे अट्ठाईसवें श्लोकतक और आठवें अध्यायके ग्यारहवेंसे तेरहवें श्लोकतक निर्गुण-निराकारकी उपासनाका महत्त्व बताया।

छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें साधक भक्तकी महिमा बतायी और सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक जगह-जगह ***'अहम्,' 'माम्'*** *आदि पदोंद्वारा विशेषरूपसे सगुण-साकार एवं सगुण-निराकारकी उपासनाका महत्त्व बताया तथा अन्तमें ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें-पचपनवें श्लोकोंमें अनन्य भक्तिकी महिमा एवं फलसहित उसके स्वरूपका वर्णन किया*।*

उपर्युक्त वर्णनसे अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि सगुण भगवान्‌की उपासना करनेवाले और निर्गुण ब्रह्मकी उपासना करनेवाले—दोनोंमेंसे कौन-से उपासक श्रेष्ठ हैं। इसी जिज्ञासाको लेकर अर्जुन प्रश्न करते हैं—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

---

* इस अध्यायसे पहले साकार भगवान्‌के उपासकोंका वर्णन जिन श्लोकोंमें जिन पदोंके द्वारा हुआ है, उनका परिचय इस प्रकार है—

अध्याय	श्लोक	पद	अर्थ
६	४७	'मद्गतेनान्तरात्मना''''श्रद्धावान्भजते यो माम्'	(जो श्रद्धावान् भक्त मेरेमें तल्लीन हुए मनसे मेरा भजन करता है)।
७	१	'मय्यासक्तमनाः'''' योगं युंजन्मदाश्रयः'	(मुझमें अनन्य प्रेमसे आसक्त मनवाला और मेरे आश्रित होकर भक्तियोगमें लगा हुआ)।
७	२९-३०	'मामाश्रित्य यतन्ति', 'युक्तचेतसः'	('युक्त चित्तवाले पुरुष मेरे शरण होकर साधन करते हैं)।
८	७	'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'	(मेरेमें अर्पित किये हुए मन-बुद्धिवाला)।
८	१४	'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः'	(मेरेमें अनन्यचित्त होकर जो नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है)।
९	१४	'सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः'	(दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं)।
९	२२	'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते'	(अनन्यभावसे जो भक्तजन मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं)।
९	३०	'भजते मामनन्यभाक्'	(अनन्यभावसे मेरा भजन करता है)।
१०	९	'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्'	(मेरेमें मन लगाये रखनेवाले और मेरेमें प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए)।
११	५५	'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः'	(मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य-कर्म करनेवाला, मेरे परायण और मेरा भक्त है)।

अर्जुन बोले—

ये	= जो	**त्वाम्**	= आप (सगुण-साकार)-की	**अव्यक्तम्**	= निर्गुण-निराकारकी
भक्ताः	= भक्त	**पर्युपासते**	= उपासना करते हैं	**अपि**	= ही (उपासना करते हैं),
एवम्	= इस प्रकार (ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकके अनुसार)	**च**	= और	**तेषाम्**	= उन दोनोंमेंसे
सततयुक्ताः	= निरन्तर आपमें लगे रहकर	**ये**	= जो	**योगवित्तमाः**	= उत्तम योगवेत्ता
		अक्षरम्	= अविनाशी	**के**	= कौन हैं?

व्याख्या—'**एवं सततयुक्ता ये भक्ताः**'—ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्ने '**यः**' और '**सः**' पद जिस साधकके लिये प्रयुक्त किये हैं, उसी साधकके लिये अर्थात् सगुण-साकार भगवान्की उपासना करनेवाले सब साधकोंके लिये यहाँ '**ये भक्ताः**' पद आये हैं।

यहाँ '**एवम्**' पदसे ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकका निर्देश किया गया है।

'मैं भगवान्का ही हूँ',—इस प्रकार भगवान्का होकर रहना ही 'सततयुक्त' होना है।

भगवान्में पूर्ण श्रद्धा रखनेवाले साधक भक्तोंका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति होता है। अतः प्रत्येक (पारमार्थिक— भगवत्सम्बन्धी जप-ध्यानादि अथवा व्यावहारिक— शारीरिक और आजीविका-सम्बन्धी) क्रियामें उनका सम्बन्ध नित्य-निरन्तर भगवान्से बना रहता है। '**सततयुक्ताः**' पद ऐसे ही साधक भक्तोंका वाचक है।

साधकसे यह एक बहुत बड़ी भूल होती है कि वह पारमार्थिक क्रियाओंको करते समय तो अपना सम्बन्ध भगवान्से मानता है, पर व्यावहारिक क्रियाओंको करते समय वह अपना सम्बन्ध संसारसे मानता है। इस भूलका कारण है—समय-समयपर साधकके उद्देश्यमें होनेवाली भिन्नता। जबतक बुद्धिमें धन-प्राप्ति, मान-प्राप्ति, कुटुम्ब-पालन आदि भिन्न-भिन्न उद्देश्य बने रहते हैं, तबतक साधकका सम्बन्ध निरन्तर भगवान्के साथ नहीं रहता। अगर वह अपने जीवनके एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्तिको ठीक-ठीक पहचान ले, तो उसकी प्रत्येक क्रिया भगवत्प्राप्तिका साधन हो जायगी। भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य हो जानेपर भगवान्का जप-स्मरण-ध्यानादि करते समय तो उसका सम्बन्ध भगवान्से है ही; किन्तु व्यावहारिक क्रियाओंको करते समय भी उसको नित्य-निरन्तर भगवान्में लगा हुआ ही समझना चाहिये।

अगर क्रियाके आरम्भ और अन्तमें साधकको भगवत्स्मृति है, तो क्रिया करते समय भी उसकी निरन्तर सम्बन्धात्मक भगवत्स्मृति रहती है—ऐसा मानना चाहिये। जैसे, बहीखातेमें जोड़ लगाते समय व्यापारीकी वृत्ति इतनी

इस अध्यायसे पहले निराकार उपासकोंका वर्णन जिन श्लोकोंमें जिन पदोंके द्वारा हुआ है, उनका परिचय इस प्रकार है—

अध्याय	श्लोक	पद	अर्थ
४	३४	**'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'**	**(उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे)।**
४	३९	**'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'**	**(श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है)।**
५	८	**'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्'**	**(तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ)।**
५	१३	**'नैव कुर्वन्न कारयन्'**	**(कर्मोंको न करता हुआ, न करवाता हुआ)।**
५	२४—२६	**'ब्रह्मनिर्वाणम्'**	**(निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त होता है)।**
६	२५	**'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा'**	**(मनको परमात्मामें स्थित करके)।**
८	११	**'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति'**	**(वेदोंके ज्ञाता पुरुष जिस परमपदको 'अक्षर' कहते हैं)।**
८	१३	**'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्'**	**(ॐ—इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण और मुझ निर्गुण ब्रह्मका स्मरण करता हुआ)।**
९	१५	**'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते'**	**(ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए मेरी उपासना करते हैं)।**

तल्लीन होती है कि मैं कौन हूँ और जोड़ क्यों लगा रहा हूँ—इसका भी ज्ञान नहीं रहता। केवल जोड़के अंकोंकी ओर ही उसका ध्यान रहता है। जोड़ शुरू करनेसे पहले उसके मनमें यह धारणा रहती है कि 'मैं अमुक व्यापारी हूँ तथा अमुक कार्यके लिये जोड़ लगा रहा हूँ' और जोड़ लगाना समाप्त करते ही पुन: उसमें उसी भावकी स्फुरणा हो जाती है कि 'मैं अमुक व्यापारी हूँ और अमुक कार्य कर रहा था।' अत: जिस समयमें वह तल्लीनतापूर्वक जोड़ लगा रहा है, उस समय भी 'मैं अमुक व्यापारी हूँ और अमुक कार्य कर रहा हूँ'—इस भावकी विस्मृति दीखते हुए भी वस्तुत: 'विस्मृति' नहीं मानी जाती।

इसी प्रकार यदि कर्तव्य-कर्मके आरम्भ और अन्तमें साधकका यह भाव है कि 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान्‌के लिये ही कर्तव्य-कर्म कर रहा हूँ', तथा इस भावमें उसे थोड़ी भी शंका नहीं है, तो जब वह अपने कर्तव्य-कर्ममें तल्लीनतापूर्वक लग जाता है, उस समय उसमें भगवान्‌की विस्मृति दीखते हुए भी वस्तुत: विस्मृति नहीं मानी जाती।

'**त्वाम् पर्युपासते**'—यहाँ '**त्वाम्**' पदसे उन सभी सगुण-साकार स्वरूपोंको ग्रहण कर लेना चाहिये, जिनको भगवान् भक्तोंके इच्छानुसार समय-समयपर धारण किया करते हैं और जो स्वरूप भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न अवतारोंमें धारण किये हैं तथा भगवान्‌का जो स्वरूप दिव्यधाममें विराजमान है—जिसको भक्तलोग अपनी मान्यताके अनुसार अनेक रूपों और नामोंसे कहते हैं।

'**पर्युपासते**'—पदका अर्थ है—'**परित: उपासते**' अर्थात् अच्छी तरह उपासना करते हैं। जैसे पतिव्रता स्त्री कभी पतिकी सेवामें अपने शरीरको अर्पण करके, कभी पतिकी अनुपस्थितिमें पतिका चिन्तन करके, कभी पतिके सम्बन्धसे सास-ससुर आदिकी सेवा करके और कभी पतिके लिये रसोई बनाना आदि घरके कार्य करके सदा-सर्वदा पतिकी ही उपासना करती है, ऐसे ही साधक भक्त भी कभी भगवान्‌में तल्लीन होकर, कभी भगवान्‌का जप-स्मरण-चिन्तन करके, कभी सांसारिक प्राणियोंको भगवान्‌का ही मानकर उनकी सेवा करके और कभी भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार सांसारिक कर्मोंको करके सदा-सर्वदा भगवान्‌की उपासनामें ही लगा रहता है। ऐसी उपासना ही अच्छी तरह की गयी उपासना है। ऐसे उपासकके हृदयमें उत्पन्न और नष्ट होनेवाले पदार्थों और क्रियाओंका किंचिन्मात्र भी महत्त्व नहीं होता।

'**ये चाप्यक्षरमव्यक्तम्**'—यहाँ '**ये**' पद निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवाले साधकोंका वाचक है। अर्जुनने श्लोकके पूर्वार्द्धमें जिस श्रेणीके सगुण-साकारके उपासकोंके लिये '**ये**' पदका प्रयोग किया है, उसी श्रेणीके निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये यहाँ '**ये**' पदका प्रयोग किया गया है।

'**अक्षरम्**' पद अविनाशी सच्चिदानन्दघन परब्रह्मका वाचक है (इसकी व्याख्या इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें की जायगी)।

जो किसी इन्द्रियका विषय नहीं है, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं। यहाँ '**अव्यक्तम्**' पदके साथ '**अक्षरम्**' विशेषण दिया गया है। अत: यह पद निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है (इसकी व्याख्या इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें की जायगी)।

'**अपि**' पदसे ऐसा भाव प्रतीत होता है कि यहाँ साकार उपासकोंकी तुलना उन्हीं निराकार उपासकोंसे की गयी है, जो केवल निराकार ब्रह्मको श्रेष्ठ मानकर उसकी उपासना करते हैं।

'**तेषां के योगवित्तमा:**'—यहाँ '**तेषाम्**' पद सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारके उपासकोंके लिये आया है। इसी अध्यायके पाँचवें श्लोकमें '**तेषाम्**' पद निर्गुण उपासकोंके लिये आया है, जबकि सातवें श्लोकमें '**तेषाम्**' पद सगुण उपासकोंके लिये आया है।

इन पदोंसे अर्जुनका अभिप्राय यह है कि इन दो प्रकारके उपासकोंमें कौन-से उपासक श्रेष्ठ हैं।

'साकार और निराकारके उपासकोंमें श्रेष्ठ कौन है?'—अर्जुनके इस प्रश्नका भगवान्‌ने जो उत्तर दिया है, उसपर गहरा विचार करनेसे अर्जुनके प्रश्नकी महत्ताका पता चलता है; जैसे—

इस अध्यायके दूसरे श्लोकसे चौदहवें अध्यायके बीसवें श्लोकतक भगवान् अविराम बोलते ही चले गये हैं। तिहत्तर श्लोकोंका इतना लम्बा प्रकरण गीतामें एकमात्र यही है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् इस प्रकरणमें कोई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात समझाना चाहते हैं। साधकोंको साकार और निराकार स्वरूपमें एकताका बोध हो, उनके हृदयमें इन दोनों स्वरूपोंको प्राप्त करानेवाले साधनोंका सांगोपांग रहस्य प्रकट हो, सिद्ध भक्तों (गीता—बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक)

और ज्ञानियों (गीता—चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक)-के आदर्श लक्षणोंसे वे परिचित हों और संसारसे सम्बन्ध-विच्छेदकी विशेष महत्ता उनकी समझमें आ जाय—इन्हीं उद्देश्योंको सिद्ध करनेमें भगवान्की विशेष रुचि मालूम देती है। तात्पर्य है कि भगवान्के हृदयमें जीवोंके लिये जो परमकल्याणकारी, अत्यन्त गोपनीय और उत्तमोत्तम भाव थे, उनको प्रकट करवानेका श्रेय अर्जुनके इस भगवत्प्रेरित प्रश्नको ही है।

परिशिष्ट भाव—'योगशास्त्र' होनेसे गीतामें 'योग' मुख्य है। अत: असली योगवेत्ता कौन है?—यह अर्जुनका प्रश्न है। योगवेत्ताओंकी तीन श्रेणियाँ हैं—(१) योगवित् अर्थात् योगी (२) योगवित्तर अर्थात् दो योगियोंमें श्रेष्ठ योगी और (३) योगवित्तम अर्थात् सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ योगी। अर्जुनको 'योगवित्' और 'योगवित्तर' के विषयमें सन्देह नहीं है, प्रत्युत 'योगवित्तम' के विषयमें सन्देह है।

सम्बन्ध—अर्जुनके सगुण और निर्गुण उपासकोंकी श्रेष्ठता-विषयक प्रश्नके उत्तरमें भगवान् निर्णय देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

श्रीभगवान् बोले—

मयि	= मुझमें	**परया**	= परम	**ते**	= वे
मनः	= मनको	**श्रद्धया**	= श्रद्धासे	**मे**	= मेरे
आवेश्य	= लगाकर	**उपेताः**	= युक्त होकर	**मताः**	= मतमें
नित्ययुक्ताः	= नित्य-निरन्तर मुझमें लगे हुए	**माम्**	= मेरी (सगुण-साकारकी)	**युक्ततमाः**	= सर्वश्रेष्ठ योगी हैं।
ये	= जो भक्त	**उपासते**	= उपासना करते हैं,		

व्याख्या—[भगवान्ने ठीक यही निर्णय अर्जुनके बिना पूछे ही छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें दे दिया था। परन्तु उस विषयमें अपना प्रश्न न होनेके कारण अर्जुन उस निर्णयको पकड़ नहीं पाये। कारण कि स्वयंका प्रश्न न होनेसे सुनी हुई बात भी प्राय: लक्ष्यमें नहीं आती। इसलिये उन्होंने इस अध्यायके पहले श्लोकमें ऐसा प्रश्न किया।

इसी प्रकार अपने मनमें किसी विषयको जाननेकी पूर्ण अभिलाषा और उत्कण्ठाके अभावमें तथा अपना प्रश्न न होनेके कारण सत्संगमें सुनी हुई और शास्त्रोंमें पढ़ी हुई साधन-सम्बन्धी मार्मिक और महत्त्वपूर्ण बातें प्राय: साधकोंके लक्ष्यमें नहीं आतीं। अगर वही बात उनके प्रश्न करनेपर समझायी जाती है, तो वे उसको अपने लिये विशेषरूपसे कही गयी मानकर श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। प्राय: वे सुनी और पढ़ी हुई बातोंको अपने लिये न समझकर उनकी उपेक्षा कर देते हैं, जबकि उनमें उस बातके संस्कार सामान्यरूपसे रहते ही हैं, जो विशेष उत्कण्ठा होनेसे जाग्रत् भी हो सकते हैं। अत: साधकोंको चाहिये कि वे जो पढ़ें और सुनें, उसको अपने लिये ही मानकर जीवनमें उतारनेकी चेष्टा करें।]

'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते'—मन वहीं लगता है, जहाँ प्रेम होता है। जिसमें प्रेम होता है, उसका चिन्तन स्वत: होता है।

'नित्ययुक्ताः' का तात्पर्य है कि साधक स्वयं भगवान्में लग जाय। 'भगवान् ही मेरे हैं और मैं भगवान्का ही हूँ'—यही स्वयंका भगवान्में लगना है। स्वयंका दृढ़ उद्देश्य भगवत्प्राप्ति होनेपर भी मन-बुद्धि स्वत: भगवान्में लगते हैं। इसके विपरीत स्वयंका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति न हो तो मन-बुद्धिको भगवान्में लगानेका यत्न करनेपर भी वे पूरी तरह भगवान्में नहीं लगते। परन्तु जब स्वयं ही अपने-आपको भगवान्का मान ले, तब तो मन-बुद्धि भगवान्में तल्लीन हो ही जाते हैं। स्वयं कर्ता है और मन-बुद्धि करण हैं। करण कर्ताके ही आश्रित रहते हैं। जब कर्ता भगवान्का हो जाय, तब मन-बुद्धिरूप करण स्वत: भगवान्में लगते हैं।

साधकसे भूल यह होती है कि वह स्वयं भगवान्में न लगकर अपने मन-बुद्धिको भगवान्में लगानेका अभ्यास करता है। स्वयं भगवान्में लगे बिना मन-बुद्धिको भगवान्में

लगाना कठिन है। इसीलिये साधकोंकी यह व्यापक शिकायत रहती है कि मन-बुद्धि भगवान्‌में नहीं लगते। मन-बुद्धि एकाग्र होनेसे सिद्धि (समाधि आदि) तो हो सकती है, पर कल्याण स्वयंके भगवान्‌में लगनेसे ही होगा।

उपासनाका तात्पर्य है—स्वयं-(अपने-आप-) को भगवान्‌के अर्पित करना कि मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं। स्वयंको भगवान्‌के अर्पित करनेसे नाम-जप, चिन्तन, ध्यान, सेवा, पूजा आदि तथा शास्त्रविहित क्रियामात्र स्वतः भगवान्‌के लिये ही होती है।

शरीर प्रकृतिका और जीव परमात्माका अंश है। प्रकृतिके कार्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अहम्‌से तादात्म्य, ममता और कामना न करके केवल भगवान्‌को ही अपना माननेवाला यह कह सकता है कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। ऐसा कहने या माननेवाला भगवान्‌से कोई नया सम्बन्ध नहीं जोड़ता। चेतन और नित्य होनेके कारण जीवका भगवान्‌से सम्बन्ध स्वतःसिद्ध है। किन्तु उस नित्यसिद्ध वास्तविक सम्बन्धको भूलकर जीवने अपना सम्बन्ध प्रकृति एवं उसके कार्य शरीरसे मान लिया, जो अवास्तविक है। अतः जबतक प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध है, तभीतक भगवान्‌से अपना सम्बन्ध माननेकी आवश्यकता है। प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध टूटते ही भगवान्‌से अपना वास्तविक और नित्यसिद्ध सम्बन्ध प्रकट हो जाता है; उसकी स्मृति प्राप्त हो जाती है—**'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'** (गीता १८। ७३)।

जडता-(प्रकृति-) के सम्मुख होनेके कारण अर्थात् उससे सुखभोग करते रहनेके कारण जीव शरीरसे 'मैं' पनका सम्बन्ध जोड़ लेता है अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' ऐसा मान लेता है। इस प्रकार शरीरसे माने हुए सम्बन्धके कारण वह वर्ण, आश्रम, जाति, नाम, व्यवसाय तथा बालकपन, जवानी आदि अवस्थाओंको बिना याद किये भी (स्वाभाविक रूपसे) अपनी ही मानता रहता है अर्थात् अपनेको उनसे अलग नहीं मानता।

जीवकी विजातीय शरीर और संसारके साथ (भूलसे की हुई) सम्बन्धकी मान्यता भी इतनी दृढ़ रहती है कि बिना याद किये सदा याद रहती है। अगर वह अपने सजातीय (चेतन और नित्य) परमात्माके साथ अपने वास्तविक सम्बन्धको पहचान ले, तो किसी भी अवस्थामें परमात्माको नहीं भूल सकता। फिर उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते हर समय प्रत्येक अवस्थामें भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन स्वतः होने लगता है।

जिस साधकका उद्देश्य सांसारिक भोगोंका संग्रह और उनसे सुख लेना नहीं है, प्रत्युत एकमात्र परमात्माको प्राप्त करना ही है, उसके द्वारा भगवान्‌से अपने सम्बन्धकी पहचान आरम्भ हो गयी—ऐसा मान लेना चाहिये। इस सम्बन्धकी पूर्ण पहचानके बाद साधकमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, शरीर आदिके द्वारा सांसारिक भोग और उनका संग्रह करनेकी इच्छा बिलकुल नहीं रहती।

वास्तवमें एकमात्र भगवान्‌का होते हुए जीव जितने अंशमें प्रकृतिसे सुख-भोग प्राप्त करना चाहता है, उतने ही अंशमें उसने इस भगवत्सम्बन्धको दृढ़तापूर्वक नहीं पकड़ा है। उतने अंशमें उसका प्रकृतिके साथ ही सम्बन्ध है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह प्रकृतिसे विमुख होकर अपने-आपको केवल भगवान्‌का ही माने, उन्हींके सम्मुख हो जाय।

'श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः'— साधककी श्रद्धा वहीं होगी, जिसे वह सर्वश्रेष्ठ समझेगा। श्रद्धा होनेपर अर्थात् बुद्धि लगनेपर वह अपने द्वारा निश्चित किये हुए सिद्धान्तके अनुसार स्वाभाविक जीवन बनायेगा और अपने सिद्धान्तसे कभी विचलित नहीं होगा।

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ मन लगता है और जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ बुद्धि लगती है। प्रेममें प्रेमास्पदके संगकी तथा श्रद्धामें आज्ञापालनकी मुख्यता रहती है।

एकमात्र भगवान्‌में प्रेम होनेसे भक्तको भगवान्‌के साथ नित्य-निरन्तर सम्बन्धका अनुभव होता है, कभी वियोगका अनुभव होता ही नहीं। इसीलिये भगवान्‌के मतमें ऐसे भक्त ही वास्तवमें उत्तम योगवेत्ता हैं।

यहाँ **'ते मे युक्ततमा मताः'** बहुवचनान्त पदसे जो बात कही गयी है, यही बात छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें **'स मे युक्ततमो मतः'** एकवचनान्त पदसे कही जा चुकी है*।

*** ग्यारहवें अध्यायके चौवनवें श्लोकमें भगवान् कह चुके हैं कि अनन्य भक्तिके द्वारा साधक मुझे प्रत्यक्ष देख सकता है, तत्त्वसे जान सकता है और मुझे प्राप्त हो सकता है; परन्तु अठारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने निर्गुण-उपासकोंके लिये अपनेको तत्त्वसे जानने और प्राप्त करनेकी ही बात कही है, दर्शन देनेकी बात नहीं कही। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सगुण-उपासकोंको भगवान्‌के दर्शन भी होते हैं। यह उनकी विशेषता है।**

परिशिष्ट भाव—'स योगी परमो मतः' (गीता ६। ३२), **'स मे युक्ततमो मतः'** (गीता ६। ४७), **'ते मे युक्ततमा मताः'** (गीता १२। २)—इस प्रकार भगवान्‌ने जो श्रेष्ठताकी बात कही है, इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि किसी भी मार्गसे चले, वास्तवमें श्रेष्ठ वही है, जिसको भक्ति प्राप्त हो गयी है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगीको तो अन्तमें भक्ति प्राप्त होती है, पर भक्तियोगी आरम्भसे ही भक्तिमें लगा है (जो कि कर्मयोग तथा ज्ञानयोगका फल है), इसलिये वह सबसे श्रेष्ठ है।

ज्ञान और भक्ति—दोनों ही संसारका दुःख दूर करनेमें समान हैं; परन्तु दोनोंमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी महिमा अधिक है। ज्ञानमें तो अखण्डरसकी प्राप्ति होती है, पर भक्तिमें अनन्तरसकी प्राप्ति होती है। अनन्तरसमें प्रतिक्षण बढ़नेवाला, लहरोंवाला, उछालवाला एक बहुत विलक्षण आनन्द है। जैसे संसारमें किसी वस्तुका ज्ञान होता है कि 'ये रुपये हैं; यह घड़ी है' आदि, तो यह ज्ञान केवल अज्ञान (अनजानपने)-को मिटाता है, ऐसे ही तत्त्वज्ञान केवल अज्ञानको मिटाता है। अज्ञान मिटनेसे दुःख, भय, जन्म-मरणरूप बन्धन—ये सब मिट जाते हैं। परन्तु प्रेम (भक्ति) ज्ञानसे भी विलक्षण है। ज्ञान भगवान्‌तक नहीं पहुँचता, पर प्रेम भगवान्‌तक पहुँचता है। ज्ञानका अनुभव करनेवाला तो स्वयं होता है, पर प्रेमका अनुभव करनेवाले और ज्ञाता भगवान् होते हैं! भगवान् ज्ञानके भूखे नहीं हैं, प्रत्युत प्रेमके भूखे हैं। मुक्त होनेपर तो ज्ञानयोगी सन्तुष्ट, तृप्त हो जाता है। (गीता—तीसरे अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक), पर प्रेम प्राप्त होनेपर भक्त सन्तुष्ट नहीं होता, प्रत्युत उसका आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। अतः आखिरी तत्त्व प्रेम है, मुक्ति नहीं।

जैसे 'ये रुपये हैं'—ऐसा ज्ञान हो गया तो अनजानपना मिट गया; परन्तु उनको पानेका लोभ हो जाय कि 'और मिले, और मिले' तो उसमें एक विशेष रस आता है। ऐसे ही भक्तिमें एक विशेष रस आता है। तात्पर्य है कि संसारमें जैसे रुपयोंमें आकर्षित करनेकी शक्ति लोभमें ही है, ऐसे ही भगवान्‌में आकर्षित करनेकी शक्ति प्रेममें ही है, ज्ञानमें नहीं। धनका लोभ तो अधिक पतन करता है, पर प्रेम ज्ञानसे भी अधिक उन्नत करता है। वस्तुके आकर्षणमें जो रस है, वह रस वस्तुमें और वस्तुके ज्ञानमें नहीं है।

विवेकमार्ग (ज्ञानयोग)-में सत् और असत्—दोनोंकी मान्यता साथ-साथ रहनेसे असत्‌की अति सूक्ष्म सत्ता अर्थात् अति सूक्ष्म अहम् दूरतक साथ रहता है। यह सूक्ष्म अहम् अथवा अहम्‌का संस्कार मुक्त होनेपर भी रहता है। यह सूक्ष्म अहम् जन्म-मरण देनेवाला तो नहीं होता, पर यह ईश्वरसे अभिन्न होनेमें बाधक होता है। इसलिये विवेकमार्गमें ज्ञानियोंकी अथवा दार्शनिकोंकी मुक्ति तो हो सकती है, पर ईश्वरके साथ अभिन्नता अर्थात् प्रेम हो जाय—यह नियम नहीं है। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही दार्शनिकोंमें और उनके दर्शनोंमें परस्पर मतभेद रहता है। परन्तु विश्वासमार्ग (भक्तियोग)-में आरम्भसे ही भक्त एक ईश्वरके सिवाय और किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता। इसलिये वह ईश्वरके साथ अभिन्न हो जाता है। ईश्वरके साथ अभिन्न होनेपर अर्थात् प्रेमका उदय होनेपर सूक्ष्म अहम् तथा उससे पैदा होनेवाले सम्पूर्ण दार्शनिक मतभेद सर्वथा मिट जाते हैं[1] अर्थात् द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि जितने भी मतभेद हैं, वे सब वासुदेवरूप हो जाते हैं, जो कि वास्तवमें है। इसलिये **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव करनेवाले प्रेमी भक्तके हृदयमें किसी एक मतका आग्रह नहीं रहता, प्रत्युत सबका समान आदर रहता है। किसी एक मतका आग्रह न होनेसे उसके द्वारा किसीका भी कभी अनादर नहीं होता। तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञानकी एकतासे प्रेमकी एकता श्रेष्ठ है। ज्ञानमें परमात्मासे दूरी और भेद तो मिट जाते हैं, पर अभिन्नता (मिलन) नहीं होती। परन्तु प्रेममें दूरी, भेद और भिन्नता—तीनों ही मिट जाते हैं। इसलिये वास्तविक अद्वैत प्रेममें ही है। प्रेममें इतनी शक्ति है कि इसमें भक्त भगवान्‌का भी इष्ट हो जाता है। ज्ञानमार्गवाले मुक्तिको सबसे ऊँची चीज मानते हैं, फिर वे मुक्तिसे भी आगेकी चीज प्रेम (प्रेमाभक्ति या पराभक्ति) को कैसे समझें? मुक्तिमें तो अखण्ड रस है, पर प्रेममें अनन्त (प्रतिक्षण वर्धमान) रस है। प्रेम मुक्ति, तत्त्वज्ञान, स्वरूप-बोध, आत्मसाक्षात्कार, कैवल्यसे भी आगेकी चीज है[2]!

भगवान्‌ने छठे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें अपने सगुणरूपमें श्रद्धा-प्रेम रखनेवाले साधकको सम्पूर्ण योगियोंमें श्रेष्ठ बताया है। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌को अपना मानकर उनके परायण रहनेवाला साधक ही भगवान्‌को विशेष प्रिय है।

१-प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥ (मानस, उत्तर० ४९। ३)

२-द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते वोधे मनीषया। भक्त्यर्थं कल्पितं (स्वीकृतं) द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥ (बोधसार, भक्ति० ४२)

कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों लौकिक निष्ठाएँ है; (गीता—तीसरे अध्यायका तीसरा श्लोक) परन्तु भक्तियोग लौकिक निष्ठा अर्थात् प्राणीकी निष्ठा नहीं है। जो भगवान्‌में लग जाता है, वह भगवन्निष्ठ होता है अर्थात् उसकी निष्ठा अलौकिक होती है। उसके साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। इसलिये भक्तियोग साधन भी है और साध्य भी, तभी कहा है—'**भक्त्या संजातया भक्त्या**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१) अर्थात् भक्तिसे भक्ति पैदा होती है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नौ प्रकारकी 'साधन भक्ति' है* और इससे आगे प्रेमलक्षणा भक्ति 'साध्य भक्ति' है, जो कर्मयोग और ज्ञानयोग सबकी साध्य है (गीता—अठारहवें अध्यायका चौवनवाँ श्लोक)। यह साध्य भक्ति ही सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है।

ज्ञानयोगमें साधक सत्-असत्‌के विवेकको महत्त्व देकर असत्‌का त्याग करता है। असत्‌का त्याग करनेसे त्यागीकी और त्याज्य वस्तुकी सत्ता भावरूपसे बहुत दूरतक साथ रहती है, इसलिये ज्ञानयोगमें असत्‌का सर्वथा त्याग बहुत देरीसे होता है। कर्मयोगमें साधक असत् वस्तुओंको त्याज्य न मानकर सेवा-सामग्री मानता है। त्याग करनेमें निकृष्ट वस्तु तो सुगमतासे छूटती है, पर अच्छी वस्तुको छोड़ना कठिन होता है। अत: अच्छी वस्तुका त्याग करनेकी अपेक्षा उसको दूसरेकी सेवामें लगाना सुगम पड़ता है। निष्कामभावपूर्वक दूसरोंकी सेवामें लगानेसे असत्‌का त्याग सुगमतासे और जल्दी हो जाता है। भक्तियोगमें जगत्‌को भगवान्‌का अथवा भगवत्स्वरूप माननेसे जगत् (असत्) बहुत शीघ्र लुप्त हो जाता है और भगवान् रह जाते हैं। इस प्रकार ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोगमें असत् (जड़ता)-का शीघ्र त्याग होता है और कर्मयोगकी अपेक्षा भक्तियोगमें असत्‌का शीघ्र त्याग होता है; क्योंकि भक्तिमें असत् रहता ही नहीं—'**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। अत: ज्ञानयोगसे कर्मयोग श्रेष्ठ है—'**तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते**' (गीता ५। २) और कर्मयोगसे भक्तियोग श्रेष्ठ है—'**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मत:।**' (गीता ६। ४७)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने सगुण-उपासकोंको सर्वश्रेष्ठ योगी बताया। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या निर्गुण-उपासक सर्वश्रेष्ठ योगी नहीं हैं? इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥ ३॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥ ४॥

तु	= और	**कूटस्थम्**	= निर्विकार,	**सर्वभूतहिते**	= प्राणिमात्रके हितमें
ये	= जो (अपने)	**अचलम्**	= अचल,	**रताः**	= प्रीति रखनेवाले (और)
इन्द्रियग्रामम्	= इन्द्रिय-समूहको	**ध्रुवम्**	= ध्रुव,	**सर्वत्र**	= सब जगह
सन्नियम्य	= भलीभाँति वशमें करके	**अक्षरम्**	= अक्षर	**समबुद्धयः**	= समबुद्धिवाले मनुष्य
अचिन्त्यम्	= चिन्तनमें न आनेवाले,	**च**	= और	**माम्**	= मुझे
सर्वत्रगम्	= सब जगह परिपूर्ण,	**अव्यक्तम्**	= अव्यक्तकी	**एव**	= ही
अनिर्देश्यम्	= देखनेमें न आनेवाले,	**पर्युपासते**	= तत्परतासे उपासना करते हैं,	**प्राप्नुवन्ति**	= प्राप्त होते हैं।
		ते	= वे		

'बोधसे पहलेका द्वैत मोहमें डालता है, पर बोध हो जानेपर भक्तिके लिये स्वीकृत द्वैत-अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

* **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

व्याख्या—'**तु**'—यहाँ '**तु**' पद साकार-उपासकोंसे निराकार-उपासकोंकी भिन्नता दिखानेके लिये आया है।

'**सन्नियम्येन्द्रियग्रामम्**'—'**सम्**' और '**नि**'—दो उपसर्गोंसे युक्त '**सन्नियम्य**' पद देकर भगवान्‌ने यह बताया है कि सभी इन्द्रियोंको सम्यक् प्रकारसे एवं पूर्णत: वशमें करे, जिससे वे किसी अन्य विषयमें न जायँ। इन्द्रियाँ अच्छी प्रकारसे पूर्णत: वशमें न होनेपर निर्गुण-तत्त्वकी उपासनामें कठिनता होती है। सगुण-उपासनामें तो ध्यानका विषय सगुण भगवान् होनेसे इन्द्रियाँ भगवान्‌में लग सकती हैं; क्योंकि भगवान्‌के सगुण स्वरूपमें इन्द्रियोंको अपने विषय प्राप्त हो जाते हैं। अत: सगुण-उपासनामें इन्द्रिय-संयमकी आवश्यकता होते हुए भी इसकी उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है, जितनी निर्गुण-उपासनामें है। निर्गुण-उपासनामें चिन्तनका कोई आधार न रहनेसे इन्द्रियोंका सम्यक् संयम हुए बिना (आसक्ति रहनेपर) विषयोंमें मन जा सकता है और विषयोंका चिन्तन होनेसे पतन होनेकी अधिक सम्भावना रहती है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। अत: निर्गुणोपासकके लिये सभी इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाते हुए सम्यक् प्रकारसे पूर्णत: वशमें करना आवश्यक है। इन्द्रियोंको केवल बाहरसे ही वशमें नहीं करना है, प्रत्युत विषयोंके प्रति साधकके अन्त:करणमें भी राग नहीं रहना चाहिये; क्योंकि जबतक विषयोंमें राग है, तबतक ब्रह्मकी प्राप्ति कठिन है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

गीतामें इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात विशेषरूपसे जितनी निर्गुणोपासना तथा कर्मयोगमें आयी है, उतनी सगुणोपासनामें नहीं।

'**अचिन्त्यम्**'—मन-बुद्धिका विषय न होनेके कारण '**अचिन्त्यम्**' पद निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है; क्योंकि मन-बुद्धि प्रकृतिका कार्य होनेसे सम्पूर्ण प्रकृतिको भी अपना विषय नहीं बना सकते, फिर प्रकृतिसे अतीत परमात्मा इनका विषय बन ही कैसे सकता है!

प्राकृतिक पदार्थमात्र चिन्त्य है और परमात्मा प्रकृतिसे अतीत होनेके कारण सम्पूर्ण चिन्त्य पदार्थोंसे भी अतीत, विलक्षण हैं। प्रकृतिकी सहायताके बिना उनका चिन्तन, वर्णन नहीं किया जा सकता। अत: परमात्माको स्वयं-(करण-निरपेक्ष ज्ञान-) से ही जाना जा सकता है; प्रकृतिके कार्य मन-बुद्धि आदि (करण-सापेक्ष ज्ञान)-से नहीं।

'**सर्वत्रगम्**'—सब देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण होनेसे ब्रह्म '**सर्वत्रगम्**' है। सर्वव्यापी होनेके कारण वह सीमित मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किया जा सकता।

'**अनिर्देश्यम्**'—जिसे इदंतासे नहीं बताया जा सकता अर्थात् जो भाषा, वाणी आदिका विषय नहीं है, वह '**अनिर्देश्यम्**' है। निर्देश (संकेत) उसीका किया जा सकता है, जो जाति, गुण, क्रिया एवं सम्बन्धसे युक्त हो और देश, काल, वस्तु एवं व्यक्तिसे परिच्छिन्न हो; परन्तु जो चिन्मय तत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण हो, उसका संकेत जड भाषा, वाणीसे कैसे किया जा सकता है?

'**कूटस्थम्**'—यह पद निर्विकार, सदा एकरस रहनेवाले सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। सभी देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें रहते हुए भी वह तत्त्व सदा निर्विकार और निर्लिप्त रहता है। उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिये वह '**कूटस्थ**' है। कूट-(अहरन-) में तरह-तरहके गहने, अस्त्र, औजार आदि पदार्थ गढ़े जाते हैं, पर वह ज्यों-का-त्यों रहता है। इसी प्रकार संसारके भिन्न-भिन्न प्राणी-पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश होनेपर भी परमात्मा सदा ज्यों-के-त्यों रहते हैं।

'**अचलम्**'—यह पद आने-जानेकी क्रियासे सर्वथा रहित ब्रह्मका वाचक है। प्रकृति चल है और ब्रह्म अचल है।

'**ध्रुवम्**'—जिसकी सत्ता निश्चित (सत्य) और नित्य है, उसको '**ध्रुव**' कहते हैं। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म सत्तारूपसे सर्वत्र विद्यमान रहनेसे '**ध्रुवम्**' है।

निर्गुण ब्रह्मके आठों विशेषणोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषण '**ध्रुवम्**' है। ब्रह्मके लिये अनिर्देश्य, अचिन्त्य आदि निषेधात्मक विशेषण देनेसे कोई ऐसा न समझ ले कि वह है ही नहीं, इसलिये यहाँ '**ध्रुवम्**' विशेषण देकर उस तत्त्वकी निश्चित सत्ता बतायी गयी है। उस तत्त्वका कभी कहीं किंचिन्मात्र भी अभाव नहीं होता। उसकी सत्तासे ही असत्-(संसार-) को सत्ता मिल रही है—**जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥** (मानस १। ११७। ४)।

'**अक्षरम्**'—जिसका कभी क्षरण अर्थात् विनाश नहीं होता तथा जिसमें कभी कोई कमी नहीं आती, वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म '**अक्षरम्**' है।

'**अव्यक्तम्**'—जो व्यक्त न हो अर्थात् मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका विषय न हो और जिसका कोई रूप या आकार न हो, उसको '**अव्यक्तम्**' कहा गया है।

'**पर्युपासते**'—यह पद यहाँ निर्गुण-उपासकोंकी सम्यक् उपासनाका बोधक है। शरीरसहित सम्पूर्ण पदार्थों

और कर्मोंमें वासना तथा अहंभावका अभाव तथा भावरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अभिन्नभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थित रहना ही उपासना करना है।

इन श्लोकोंमें आठ विशेषणोंसे जिस विशेष वस्तु-तत्त्वका लक्ष्य कराया गया है और उससे जो विशेष वस्तु समझमें आती है, वह बुद्धिविशिष्ट ब्रह्मका ही स्वरूप है, जो कि पूर्ण नहीं है; क्योंकि (लक्षण और विशेषणोंसे रहित) निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्मका स्वरूप (जो बुद्धिसे अतीत है) किसी भी प्रकारसे पूर्णतया बुद्धि आदिका विषय नहीं हो सकता। हाँ, इन विशेषणोंका लक्ष्य रखकर जो उपासना की जाती है, वह निर्गुण ब्रह्मकी ही उपासना है और इसके परिणाममें प्राप्ति भी निर्गुण ब्रह्मकी ही होती है।

विशेष बात

परमात्माको तत्त्वसे समझानेके लिये दो प्रकारके विशेषण दिये जाते हैं—निषेधात्मक और विध्यात्मक। परमात्माके अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, अचल, अव्यय, असीम, अपार, अविनाशी आदि विशेषण 'निषेधात्मक' हैं और सर्वव्यापी, कूटस्थ, ध्रुव, सत्, चित्, आनन्द आदि विशेषण 'विध्यात्मक' हैं। परमात्माके निषेधात्मक विशेषणोंका तात्पर्य प्रकृतिसे परमात्माकी 'असंगता' बताना है और विध्यात्मक विशेषणोंका तात्पर्य परमात्माकी स्वतन्त्र 'सत्ता' बताना है।

परमात्मतत्त्व सांसारिक प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनोंसे परे (सहज निवृत्त) और दोनोंको समानरूपसे प्रकाशित करनेवाला है। ऐसे निरपेक्ष परमात्मतत्त्वका लक्ष्य करानेके लिये और बुद्धिको परमात्माके नजदीक पहुँचानेके लिये ही भिन्न-भिन्न विशेषणोंसे परमात्माका वर्णन (लक्ष्य) किया जाता है।

गीतामें परमात्मा और जीवात्माके स्वरूपका वर्णन प्रायः समान ही मिलता है। परमात्माके लिये यहाँ जो विशेषण दिये गये हैं, वही विशेषण गीतामें जीवात्माके लिये भी दिये गये हैं; जैसे—दूसरे अध्यायके चौबीसवें-पचीसवें श्लोकोंमें '**सर्वगतः**', '**अचलः**', '**अव्यक्तः**', '**अचिन्त्यः**' आदि और पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें '**कूटस्थः**' एवं '**अक्षरः**' विशेषण जीवात्माके लिये आये हैं। इसी प्रकार सातवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें '**अव्ययम्**' विशेषण परमात्माके लिये और चौदहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें '**अव्ययम्**' विशेषण जीवात्माके लिये आया है।

संसारमें व्यापकरूपसे भी परमात्मा और जीवात्माको समान बताया गया है; जैसे—आठवें अध्यायके बाईसवें तथा अठारहवें अध्यायके छियालीसवें श्लोकमें '**येन सर्वमिदं ततम्**' पदोंसे और नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें '**मया ततमिदं सर्वम्**' पदोंसे परमात्माको सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त बताया गया है। इसी प्रकार दूसरे अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें '**येन सर्वमिदं ततम्**' पदोंसे जीवात्माको भी सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त बताया गया है।

जैसे नेत्रोंकी दृष्टि आपसमें नहीं टकराती अथवा व्यापक होनेपर भी शब्द परस्पर नहीं टकराते। ऐसे ही (द्वैतमतके अनुसार) सम्पूर्ण जगत्‌में समानरूपसे व्याप्त होनेपर भी निरवयव होनेसे परमात्मा और जीवात्माकी सर्वव्यापकता आपसमें नहीं टकराती।

'**सर्वभूतहिते रताः**'—कर्मयोगके साधनमें आसक्ति, ममता, कामना और स्वार्थके त्यागकी मुख्यता है। मनुष्य जब शरीर, धन, सम्पत्ति आदि पदार्थोंको 'अपना' और 'अपने लिये' न मानकर उनको दूसरोंकी सेवामें लगाता है; तब उसकी आसक्ति, ममता, कामना और स्वार्थभावका त्याग स्वतः हो जाता है। जिसका उद्देश्य प्राणिमात्रकी सेवा करना ही है, वह अपने शरीर और पदार्थोंको (दीन-दुःखी, अभावग्रस्त) प्राणियोंकी सेवामें लगायेगा ही। शरीरको दूसरोंकी सेवामें लगानेसे 'अहंता' और पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगानेसे 'ममता' नष्ट होती है। साधकका पहलेसे ही यह लक्ष्य होता है कि जो पदार्थ सेवामें लग रहे हैं, वे सेव्यके ही हैं। अतः कर्मयोगके साधनमें सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये '**सर्वभूतहिते रताः**' पदका प्रयोग कर्मयोगका आचरण करनेवालेके सम्बन्धमें करना ही अधिक युक्तिसंगत है। परन्तु भगवान्‌ने इस पदका प्रयोग यहाँ तथा पाँचवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें—दोनों ही स्थानोंपर ज्ञानयोगियोंके सम्बन्धमें किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिये कर्मयोगकी प्रणालीको अपनानेकी आवश्यकता ज्ञानयोगमें भी है।

एक बात खास ध्यान देनेकी है। शरीर, पदार्थ और क्रियासे जो सेवा की जाती है, वह सीमित ही होती है; क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ और क्रियाएँ मिलकर भी सीमित ही हैं। परन्तु सेवामें प्राणिमात्रके हितका भाव असीम होनेसे

सेवा भी असीम हो जाती है। अत: पदार्थोंके अपने पास रहते हुए भी (उनमें आसक्ति, ममता आदि न करके) उनको सम्पूर्ण प्राणियोंका मानकर उन्हींकी सेवामें लगाना है; क्योंकि वे पदार्थ समष्टिके ही हैं। ऐसा असीम भाव होनेपर जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जानेके कारण साधकको असीम तत्त्व-(परमात्मा-) की प्राप्ति हो जाती है। कारण कि पदार्थोंको व्यक्तिगत (अपना) माननेसे ही मनुष्यमें परिच्छिन्नता (एकदेशीयता) तथा विषमता रहती है और पदार्थोंको व्यक्तिगत न मानकर सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव रखनेसे परिच्छिन्नता तथा विषमता मिट जाती है। इसके विपरीत साधारण मनुष्यका ममतावाले प्राणियोंकी सेवा करनेका सीमित भाव रहनेसे वह चाहे अपना सर्वस्व उनकी सेवामें क्यों न लगा दे, तो भी पदार्थोंमें तथा जिनकी सेवा करे, उनमें आसक्ति, ममता आदि रहनेसे (सीमित भावके कारण) उसे असीम परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। अत: असीम परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये प्राणिमात्रके हितमें रति अर्थात् प्रीतिरूप असीम भावका होना आवश्यक है। '**सर्वभूतहिते रता:**' पद उसी भावको व्यक्त करते हैं।

ज्ञानयोगका साधक जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करना चाहता तो है; परन्तु जबतक उसके हृदयमें नाशवान् पदार्थोंका आदर है, तबतक पदार्थोंको मायामय अथवा स्वप्नवत् समझकर उनका ऐसे ही त्याग कर देना उसके लिये कठिन है। परन्तु कर्मयोगका साधक पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगाकर उनका त्याग ज्ञानयोगीकी अपेक्षा सुगमतापूर्वक कर सकता है। ज्ञानयोगीमें तीव्र वैराग्य होनेसे ही पदार्थोंका त्याग हो सकता है; परन्तु कर्मयोगी थोड़े वैराग्यमें ही पदार्थोंका त्याग (परहितमें) कर सकता है। प्राणियोंके हितमें पदार्थोंका सदुपयोग करनेसे जडतासे सुगमतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। भगवान्‌ने यहाँ '**सर्वभूतहिते रता:**' पद देकर यही बताया है कि प्राणिमात्रके हितमें रत रहनेसे पदार्थोंके प्रति आदरबुद्धि रहते हुए भी जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद सुगमतापूर्वक हो जायगा। प्राणिमात्रका हित करनेके लिये कर्मयोग ही सुगम उपाय है।

निर्गुण-उपासकोंकी साधनाके अन्तर्गत अनेक अवान्तर भेद होते हुए भी मुख्य भेद दो हैं—(१) जड-चेतन और चर-अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब आत्मा या ब्रह्म है और (२) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह अनित्य, क्षणभंगुर और असत् है—इस प्रकार संसारका बाध करनेपर जो तत्त्व शेष रह जाता है, वह आत्मा या ब्रह्म है।

पहली साधनामें 'सब कुछ ब्रह्म है' इतना सीख लेने-मात्रसे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती। जबतक अन्त:करणमें राग अर्थात् काम-क्रोधादि विकार हैं, तबतक ज्ञाननिष्ठाका सिद्ध होना बहुत कठिन है। जैसे राग मिटानेके लिये कर्मयोगीके लिये सभी प्राणियोंके हितमें रति होना आवश्यक है, ऐसे ही निर्गुण-उपासना करनेवाले साधकोंके लिये भी प्राणिमात्रके हितमें रति होना आवश्यक है—तभी राग मिटकर ज्ञाननिष्ठा सिद्ध हो सकती है। इसी बातका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ '**सर्वभूतहिते रता:**' पद आये हैं।

दूसरी साधनामें, जो साधक संसारसे उदासीन रहकर एकान्तमें ही तत्त्वका चिन्तन करते रहते हैं, उनके लिये कर्मोंका स्वरूपसे त्याग सहायक तो होता है; परन्तु केवल कर्मोंका स्वरूपसे त्याग कर देनेमात्रसे ही सिद्धि प्राप्त नहीं होती (गीता—तीसरे अध्यायका चौथा श्लोक), प्रत्युत सिद्धि प्राप्त करनेके लिये भोगोंसे वैराग्य और शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धिमें अपनेपनके त्यागकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसलिये वैराग्य और निर्ममताके लिये '**सर्वभूतहिते रता:**' होना आवश्यक है।

ज्ञानयोगका साधक प्राय: समाजसे दूर, असंग रहता है। अत: उसमें व्यक्तित्व रह जाता है, जिसे दूर करनेके लिये संसारमात्रके हितका भाव रहना अत्यन्त आवश्यक है।

वास्तवमें असंगता शरीरसे ही होनी चाहिये। समाजसे असंगता होनेपर अहंभाव दृढ़ होता है, अर्थात् मिटता नहीं। जबतक साधक अपनेको शरीरसे स्पष्टत: अलग अनुभव नहीं कर लेता, तबतक संसारसे अलग रहनेमात्रसे उसका लक्ष्य सिद्ध नहीं होता; क्योंकि शरीर भी संसारका ही अंग है और शरीरमें तादात्म्य और ममताका न रहना ही उससे वस्तुत: अलग होना है। तादात्म्य और ममता मिटानेके लिये साधकको प्राणिमात्रके हितमें लगना आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि साधक सर्वदा एकान्तमें ही रहे, यह सम्भव भी नहीं है; क्योंकि शरीर-निर्वाहके लिये उसे व्यवहार-क्षेत्रमें आना ही पड़ता है और वैराग्यमें कमी होनेपर उसके व्यवहारमें अभिमानके कारण कठोरता आनेकी सम्भावना रहती है तथा कठोरता आनेसे उसके व्यक्तित्व-(अहंभाव-) का नाश नहीं होता। अत: उसे तत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनता होती है। व्यवहारमें कहीं कठोरता न आ जाय, इसके लिये भी यह जरूरी है कि साधक सभी प्राणियोंके

हितमें रत रहे। ऐसे ज्ञानयोगके साधकद्वारा सेवाकार्यका विस्तार चाहे न हो; परन्तु भगवान् कहते हैं कि वह भी (सभी प्राणियोंके हितमें रति होनेके कारण) मेरेको प्राप्त कर लेगा।

सगुणोपासक और निर्गुणोपासक—दोनों ही प्रकारके साधकोंके लिये सम्पूर्ण प्राणियोंके हितका भाव रखना जरूरी है। सम्पूर्ण प्राणियोंके हितसे अलग अपना हित माननेसे 'अहम्' अर्थात् व्यक्तित्व बना रहता है, जो साधकके लिये आगे चलकर बाधक होता है। वास्तवमें कल्याण 'अहम्' के मिटनेपर ही होता है। अपने लिये किये जानेवाले साधनसे 'अहम्' बना रहता है, इसलिये 'अहम्'को पूर्णतया मिटानेके लिये साधकको प्रत्येक क्रिया (खाना, पीना, सोना आदि एवं जप, ध्यान, पाठ, स्वाध्याय आदि भी) संसारमात्रके हितके लिये ही करनी चाहिये। संसारके हितमें ही अपना हित निहित है। भगवान्‌की मात्र शक्ति परहितमें लग रही है। अत: जो सबके हितमें लगेगा, भगवान्‌की शक्ति उसके साथ हो जायगी।

केवल दूसरेके लिये वस्तुओंको देना और शरीरसे सेवा कर देना ही सेवा नहीं है, प्रत्युत अपने लिये कुछ भी न चाहकर दूसरेका हित कैसे हो, उसको सुख कैसे मिले—इस भावसे कर्म करना ही सेवा है। अपनेको सेवक कहलानेका भाव भी मनमें नहीं रहना चाहिये। सेवा तभी हो सकती है, जब सेवक जिसकी सेवा करता है, उसे अपनेसे अभिन्न (अपने शरीरकी तरह) मानता है और बदलेमें उससे कुछ भी लेना नहीं चाहता।

जैसे मनुष्य बिना किसीके उपदेश दिये अपने शरीरकी सेवा स्वत: ही बड़ी सावधानीसे करता है और सेवा करनेका अभिमान भी नहीं करता, ऐसे ही सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि होनेसे भक्तकी स्वत: सबके हितमें रति रहती है (गीता—छठे अध्यायका बत्तीसवाँ श्लोक)। उनके द्वारा प्राणिमात्रका कल्याण होता है; परन्तु उनके मनमें लेशमात्र भी ऐसा भाव नहीं होता कि हम किसीका कल्याण कर रहे हैं। उनमें अहंताका सर्वथा अभाव हो जाता है, अत: ऐसे जीवन्मुक्त महापुरुषोंको आदर्श मानकर साधकको चाहिये कि सर्वत्र आत्मबुद्धि करके संसारके किसी भी प्राणीको किंचिन्मात्र भी दु:ख न पहुँचाकर उनके हितमें सदा तत्परतासे स्वाभाविक ही रत रहे।

'**सर्वत्र समबुद्धय:**'—इस पदका भाव यह है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासकोंकी दृष्टि सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थोंमें परिपूर्ण परमात्मापर ही रहनेके कारण विषम नहीं होती; क्योंकि परमात्मा सम है (गीता—पाँचवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)।

यहाँ भगवान् ज्ञाननिष्ठावाले उपासकोंके लिये इस पदका प्रयोग करके एक विशेष भाव प्रकट करते हैं कि ज्ञानमार्गियोंके लिये एकान्तमें रहकर तत्त्वका चिन्तन करना ही एकमात्र साधन नहीं है; क्योंकि '**समबुद्धय:**' पदकी सार्थकता विशेषरूपसे व्यवहारकालमें ही होती है। दूसरी बात, संसारसे हटकर शरीरको निर्जन स्थानमें ले जाना ही सर्वथा एकान्त-सेवन नहीं है; क्योंकि शरीर भी तो संसारका ही एक अंग है। शरीर और संसारको अलग-अलग देखना विषमबुद्धि है। अत: शरीर और संसारको एक देखनेपर ही समबुद्धि हो सकती है। वास्तविक एकान्तकी सिद्धि तो परमात्मतत्त्वके अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों अर्थात् शरीर और संसारकी सत्ताका अभाव होनेसे ही होती है। साधन करनेके लिये एकान्त भी उपयोगी है; परन्तु सर्वथा एकान्तसेवी साधकके द्वारा व्यवहारकालमें भूल होना सम्भव है। शरीरमें अपनापन न होना ही वास्तविक एकान्त है। अत: साधकको चाहिये कि वास्तविक एकान्तको लक्ष्यमें रखकर अर्थात् शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिसे अपनी अहंता-ममता हटाकर सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित रहे। ऐसे साधक ही वास्तवमें समबुद्धि हैं।

गीतामें समबुद्धिका तात्पर्य 'समदर्शन' है, न कि 'समवर्तन'। पाँचवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें भगवान्‌ने विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण तथा गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल—इन पाँच प्राणियोंके नाम गिनाये हैं, जिनके साथ व्यवहारमें किसी भी प्रकारसे समता होनी सम्भव नहीं। वहाँ भी '**समदर्शिन:**' पद प्रयुक्त हुआ है। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि सबके प्रति व्यवहार कभी समान नहीं हो सकता। व्यवहार एक समान कोई कर सकता भी नहीं और होना चाहिये भी नहीं। व्यवहारमें भिन्नता होनी आवश्यक है। व्यवहारमें साधककी विभिन्न प्राणी-पदार्थोंकी आकृति और उपयोगितापर दृष्टि रहते हुए भी वास्तवमें उसकी दृष्टि उन प्राणी-पदार्थोंमें परिपूर्ण परमात्मापर ही रहती है। जैसे विभिन्न प्रकारके गहनोंसे तत्त्व-(सोने-) में कोई अन्तर नहीं आता, ऐसे ही विभिन्न प्रकारके व्यवहारसे साधककी तत्त्व-दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं आता। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति साधकमें आन्तरिक समता रहती है। यहाँ '**समबुद्धय:**' पदसे उस

आन्तरिक समताकी ओर ही लक्ष्य कराया गया है।

सिद्ध महापुरुषोंकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय दूसरी सत्ता न रहनेके कारण वे सदा और सर्वत्र 'समबुद्धि' ही हैं। सिद्ध महापुरुषोंकी स्वत:सिद्ध स्थिति ही साधकोंके लिये आदर्श होती है और उसीको लक्ष्य करके वे चलते हैं। साधकोंकी दृष्टिमें परमात्माके सिवाय अन्य पदार्थोंकी जितने अंशमें सत्ता रहती है, उतने ही अंशमें उनकी बुद्धिमें समता नहीं रहती। अत: साधककी बुद्धिमें अन्य पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता जैसे-जैसे कम होती जायगी, वैसे-वैसे ही उसकी बुद्धि सम होती जायगी।

साधक अपनी बुद्धिसे सर्वत्र परमात्माको देखनेकी चेष्टा करता है, जबकि सिद्ध महापुरुषोंकी बुद्धिमें परमात्मा स्वाभाविकरूपसे इतनी घनतासे परिपूर्ण हैं कि उनके लिये परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं। इसलिये उनकी बुद्धिका विषय परमात्मा नहीं है, प्रत्युत उनकी बुद्धि ही परमात्मासे परिपूर्ण है। अत: वे '**सर्वत्र समबुद्धय:**' हैं।

'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**'—निर्गुणके उपासक कहीं यह समझ लें कि निर्गुण तत्त्व कोई दूसरा है और सगुण कोई दूसरा है, इसलिये भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि निर्गुण ब्रह्म मुझसे भिन्न नहीं है (गीता—नवें अध्यायका चौथा और चौदहवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। सगुण और निर्गुण दोनों मेरे ही स्वरूप हैं।

इन दोनों श्लोकोंमें भगवान्‌ने निर्गुण-उपासकोंके लिये चार बातें बतायी हैं, (१) निर्गुण-तत्त्वका स्वरूप क्या है, (२) साधककी स्थिति क्या है, (३) उपासनाका स्वरूप क्या है और (४) साधक क्या प्राप्त करता है।

(१) अर्जुनने इसी अध्यायके पहले श्लोकके उत्तरार्धमें जिस निर्गुण-तत्त्वके लिये '**अक्षरम्**' और '**अव्यक्तम्**' दो विशेषण प्रयुक्त करके प्रश्न किया था, उसी तत्त्वका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये भगवान्‌ने छ: और विशेषण अर्थात् कुल आठ विशेषण दिये, जिनमें पाँच निषेधात्मक (**अक्षरम्, अनिर्देश्यम्, अव्यक्तम्, अचिन्त्यम्** और **अचलम्**) तथा तीन विध्यात्मक (**सर्वत्रगम्, कूटस्थम्** और **ध्रुवम्**) विशेषण हैं।

(२) सब देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण तत्त्वपर दृष्टि रहनेसे निर्गुण-उपासकोंकी सर्वत्र समबुद्धि होती है। देहाभिमान और भोगोंकी पृथक् सत्ता माननेके कारण ही भोग भोगनेकी इच्छा होती है और भोग भोगे जाते हैं। परन्तु इन निर्गुण-उपासकोंकी दृष्टिमें एक परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुकी पृथक् (स्वतन्त्र) सत्ता न होनेके कारण उनकी बुद्धिमें भोगोंका महत्त्व नहीं रहता। अत: वे सुगमतापूर्वक इन्द्रियोंका संयम कर लेते हैं। सर्वत्र समबुद्धिवाले होनेके कारण उनकी सब प्राणियोंके हितमें रति रहती है। इसलिये वे '**सर्वभूतहिते रता:**' हैं।

(३) साधकका सब समय उस निर्गुण-तत्त्वकी ओर दृष्टि रखना (तत्त्वके सम्मुख रहना) ही 'उपासना' है।

(४) भगवान् कहते हैं कि ऐसे साधकोंको जो निर्गुण-ब्रह्म प्राप्त होता है, वह मैं ही हूँ। तात्पर्य यह है कि सगुण और निर्गुण एक ही तत्त्व है।

परिशिष्ट भाव—भगवान्‌ने यहाँ ब्रह्मके जो लक्षण (अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अक्षर, अव्यक्त आदि) बताये हैं, वे ही लक्षण जीवात्माके भी बताये हैं; जैसे—'अचिन्त्य' (दूसरे अध्यायका पचीसवाँ श्लोक), 'कूटस्थ' (पन्द्रहवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक), 'अचल' (दूसरे अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक), 'अक्षर' (पन्द्रहवें अध्यायका सोलहवाँ और अठारहवाँ श्लोक), 'अव्यक्त' (दूसरे अध्यायका पचीसवाँ श्लोक) आदि। दोनोंके समान लक्षण बतानेका तात्पर्य है कि जीव और ब्रह्म—दोनों स्वरूपसे एक ही हैं। देहके साथ सम्बन्ध होनेसे (अनेक रूपसे) जो 'जीव' है, वही देहके साथ सम्बन्ध न होनेसे (एक रूपसे) 'ब्रह्म' है अर्थात् जीव केवल शरीरकी उपाधिसे, देहाभिमानके कारण ही अलग है, अन्यथा वह ब्रह्म ही है। इसलिये ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर उपासकको उपास्यसे सधर्मता प्राप्त हो जाती है—'**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता:**' (गीता १४। २)।

'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**'—सगुण (गुणसहित) और निर्गुण (गुणरहित)—दोनों विशेषणोंमें विशेष्य (तत्त्व) तो एक ही हुआ, इसलिये भगवान्‌ने निर्गुणके उपासकोंको भी अपनी ही प्राप्ति बतायी है। भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि निर्गुण-निराकार रूप भी मेरा ही है, मेरे समग्ररूपसे अलग नहीं है।

'**सर्वभूतहिते रता:**'—जगत्, जीव और परमात्मा—तीनों ही दृष्टियोंसे हम सब एक हैं। तात्पर्य है कि सम्पूर्ण शरीर अपरा प्रकृतिके अन्तर्गत होनेसे एक हैं और सम्पूर्ण जीव परा प्रकृतिके अन्तर्गत होनेसे एक हैं। इसलिये जब साधककी सम्पूर्ण प्राणियोंमें समबुद्धि हो जाती है—'**सर्वत्र समबुद्धय:**' और वह अपने शरीरकी तरह ही सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना

मानने लगता है—'**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन**' (गीता ६। ३२), तब उसकी सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें प्रीति हो जाती है। कारण कि सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना ही शरीर माननेसे वह किसीको भी बुरा नहीं समझता, किसीका भी बुरा नहीं चाहता और किसीका भी बुरा नहीं करता। इस प्रकार बुराईका त्याग होनेपर उसके द्वारा स्वत: दूसरोंका हित होता है। इतना ही नहीं, जैसे अपने दाँतोंसे अपनी जीभ कट जाय तो दाँतोंपर क्रोध करके उनको कोई नहीं तोड़ता, ऐसे ही जो सब प्राणियोंको अपना मानता है, उसका कोई बुरा भी करता है, तो भी उसके मनमें उसका बुरा करनेका भाव नहीं आता—'**उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥**' (मानस, सुन्दर० ४१। ४)।

बुराईका त्याग होनेपर दूसरोंकी जो सेवा होती है, वह बड़े-से-बड़े दान-पुण्यसे भी नहीं हो सकती। इसलिये बुराईका त्याग भलाईका मूल है। जिसने बुराईका त्याग कर दिया है, वही '**सर्वभूतहिते रताः**' हो सकता है।

सम्बन्ध—अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें सगुण-उपासकोंको सर्वश्रेष्ठ बताया और तीसरे-चौथे श्लोकोंमें निर्गुण-उपासकोंको अपनी प्राप्तिकी बात कही। अब दोनों प्रकारकी उपासनाओंके अवान्तर भेद तथा कठिनाई एवं सुगमताका वर्णन आगेके तीन श्लोकोंमें करते हैं।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्‌ ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥ ५॥

अव्यक्तासक्त-चेतसाम्	= अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले	**क्लेशः**	= कष्ट	**अव्यक्ता**	= अव्यक्त-विषयक
तेषाम्	= उन साधकोंको (अपने साधनमें)	**अधिकतरः**	= अधिक होता है;	**गतिः**	= गति
		हि	= क्योंकि	**दुःखम्**	= कठिनतासे
		देहवद्भिः	= देहाभिमानियोंके द्वारा	**अवाप्यते**	= प्राप्त की जाती है।

व्याख्या—'**क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्**'—अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले—इस विशेषणसे यहाँ उन साधकोंकी बात कही गयी है, जो निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं, पर जिनका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें आविष्ट नहीं हुआ है। तत्त्वमें आविष्ट होनेके लिये साधकमें तीन बातोंकी आवश्यकता होती है—रुचि, विश्वास और योग्यता। शास्त्रों और गुरुजनोंके द्वारा निर्गुण-तत्त्वकी महिमा सुननेसे जिनकी (निराकारमें आसक्त चित्तवाला होने और निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ माननेके कारण) उसमें कुछ रुचि तो पैदा हो जाती है और वे विश्वासपूर्वक साधन आरम्भ भी कर देते हैं; परन्तु वैराग्यकी कमी और देहाभिमानके कारण जिनका चित्त तत्त्वमें प्रविष्ट नहीं होता—ऐसे साधकोंके लिये यहाँ '**अव्यक्तासक्तचेतसाम्**' पदका प्रयोग हुआ है।

भगवान्‌ने छठे अध्यायके सत्ताईसवें-अट्ठाईसवें श्लोकोंमें बताया है कि 'ब्रह्मभूत' अर्थात् ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित साधकको सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। परन्तु यहाँ इस श्लोकमें '**क्लेशः अधिकतरः**' पदोंसे यह स्पष्ट किया है कि इन साधकोंका चित्त ब्रह्मभूत साधकोंकी तरह निर्गुण-तत्त्वमें सर्वथा तल्लीन नहीं हो पाया है। अत: उन्हें अव्यक्तमें 'आविष्ट' चित्तवाला न कहकर 'आसक्त' चित्तवाला कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इन साधकोंकी आसक्ति तो देहमें होती है, पर अव्यक्तकी महिमा सुनकर वे निर्गुणोपासनाको ही श्रेष्ठ मानकर उसमें आसक्त हो जाते हैं; जबकि आसक्ति देहमें ही हुआ करती है, अव्यक्तमें नहीं।

तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें '**अव्यक्तम्**' पद प्रकृतिके अर्थमें आया है तथा और भी कई जगह वह प्रकृतिके लिये ही प्रयुक्त हुआ है; परन्तु यहाँ '**अव्यक्तासक्तचेतसाम्**' पदमें '**अव्यक्त**' का अर्थ प्रकृति नहीं, प्रत्युत निर्गुण-निराकार ब्रह्म है। कारण यह है कि इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने '**त्वाम्**' पदसे सगुण-साकार स्वरूपके और '**अव्यक्तम्**' पदसे निर्गुण-निराकार स्वरूपके विषयमें ही प्रश्न किया है। उपासनाका विषय भी परमात्मा ही है, न कि प्रकृति; क्योंकि प्रकृति और प्रकृतिका कार्य तो त्याज्य है। इसलिये उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने 'अव्यक्त' पदका (व्यक्तरूपके विपरीत) निर्गुण-निराकार स्वरूपके अर्थमें ही प्रयोग किया है। अत: यहाँ प्रकृतिका प्रसंग न होनेके कारण 'अव्यक्त' पदका अर्थ

प्रकृति नहीं लिया जा सकता।

नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें **'अव्यक्तमूर्तिना'** पद सगुण-निराकार स्वरूपके लिये आया है। ऐसी दशामें यह प्रश्न हो सकता है कि यहाँ भी **'अव्यक्तासक्तचेतसाम्'** पदका अर्थ 'सगुण-निराकारमें आसक्त चित्तवाले पुरुष' ही क्यों न ले लिया जाय? परन्तु ऐसा अर्थ भी नहीं लिया जा सकता; क्योंकि इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नमें **'त्वाम्'** पद सगुण-साकारके लिये और **'अव्यक्तम्'** पदके साथ **'अक्षरम्'** पद निर्गुण-निराकारके लिये आया है। ब्रह्म क्या है?—अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान् बता चुके हैं कि 'परम अक्षर ब्रह्म है' अर्थात् वहाँ भी **'अक्षरम्'** पद निर्गुण-निराकारके लिये ही आया है। इसलिये अर्जुनने **'अव्यक्तम् अक्षरम्'** पदोंसे जिस निर्गुण-ब्रह्मके विषयमें प्रश्न किया था, उसीके उत्तरमें यहाँ ('अक्षर' विशेषण होनेसे) 'अव्यक्त' पदसे निर्गुण-निराकार ब्रह्म ही लेना चाहिये, सगुण-निराकार नहीं।

'क्लेशोऽधिकतरः' पदका भाव यह है कि जिन साधकोंका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें तल्लीन नहीं होता, ऐसे निर्गुण-उपासकोंको देहाभिमानके कारण अपनी साधनामें विशेष कष्ट अर्थात् कठिनाई होती है*। गौणरूपसे इस पदका भाव यह है कि साधनाकी प्रारम्भिक अवस्थासे लेकर अन्तिम अवस्थातकके सभी निर्गुण-उपासकोंको सगुण-उपासकोंसे अधिक कठिनाई होती है।

विशेष बात

अब सगुण-उपासनाकी सुगमताओं और निर्गुण-उपासनाकी कठिनताओंका विवेचन किया जाता है—

सगुण-उपासनाकी सुगमताएँ	निर्गुण-उपासनाकी कठिनताएँ
१—सगुण-उपासनामें उपास्यतत्त्वके सगुण-साकार होनेके कारण साधकके मन-इन्द्रियोंके लिये भगवान्के स्वरूप, नाम, लीला, कथा आदिका आधार रहता है। भगवान्के परायण होनेसे उसके मन-इन्द्रियाँ भगवान्के स्वरूप एवं लीलाओंके चिन्तन, कथा-श्रवण, भगवत्सेवा और पूजनमें अपेक्षाकृत सरलतासे लग जाते हैं (गीता—आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)। इसलिये उसके द्वारा सांसारिक विषय-चिन्तनकी सम्भावना कम रहती है।	१—निर्गुण-उपासनामें उपास्यतत्त्वके निर्गुण-निराकार होनेके कारण साधकके मन-इन्द्रियोंके लिये कोई आधार नहीं रहता। आधार न होने तथा वैराग्यकी कमीके कारण इन्द्रियोंके द्वारा विषय-चिन्तनकी अधिक सम्भावना रहती है।
२—सांसारिक आसक्ति ही साधनमें क्लेश देती है। परन्तु सगुणोपासक इसको दूर करनेके लिये भगवान्के ही आश्रित रहता है। वह अपनेमें भगवान्का ही बल मानता	२—देहमें जितनी अधिक आसक्ति होती है, साधनमें उतना ही अधिक क्लेश मालूम देता है। निर्गुणोपासक उसे विवेकके द्वारा हटानेकी चेष्टा करता है। विवेकका आश्रय लेकर साधन करते हुए वह अपने ही साधन-बलको महत्त्व देता है। बँदरीका छोटा बच्चा जैसे (अपने

* **साधक मुख्यतः दो प्रकारके होते हैं—**

एक तो वे साधक हैं, जो सत्संग, श्रवण और शास्त्राध्ययनके फलस्वरूप साधनमें प्रवृत्त होते हैं। इनको अपने साधनमें अधिक क्लेश होता है।

दूसरे वे साधक हैं, जिनकी साधनमें स्वाभाविक रुचि तथा संसारसे स्वाभाविक वैराग्य होता है। इनको अपने साधनमें कम क्लेश होता है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि साधक दो ही प्रकारके क्यों होते हैं? इसका समाधान यह है कि गीतामें योगभ्रष्ट पुरुषकी गतिके वर्णनमें भगवान्ने दो ही गतियोंका वर्णन किया है—

(१) कुछ योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यलोकोंमें जाते हैं और वहाँ भोग भोगकर लौटनेपर शुद्ध आचरणवाले श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं और पुनः साधनरत होकर परमात्माको प्राप्त होते हैं (गीता—छठे अध्यायका इकतालीसवाँ, चौवालीसवाँ और पैंतालीसवाँ श्लोक)।

(२) कुछ योगभ्रष्ट पुरुष सीधे ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेते हैं और फिर साधन करके परमात्माको प्राप्त होते हैं। ऐसे कुलमें जन्म होना 'दुर्लभतर' है (गीता—छठे अध्यायका बयालीसवाँ-तैंतालीसवाँ श्लोक)।

है। बिल्लीका बच्चा जैसे माँपर निर्भर रहता है, ऐसे ही यह साधक भी भगवान्‌पर निर्भर रहता है। भगवान् ही उसकी सँभाल करते हैं (गीता ९। २२)।

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन कै रखवारी।
जिमि बालक राखइ महतारी॥

(मानस ३। ४३। २-३)

अत: उसकी सांसारिक आसक्ति सुगमतासे मिट जाती है।

३—ऐसे उपासकोंके लिये गीतामें भगवान्‌ने **'नचिरात्'** आदि पदोंसे शीघ्र ही अपनी प्राप्ति बतायी है (गीता—बारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

४—सगुण-उपासकोंके अज्ञानरूप अन्धकारको भगवान् ही मिटा देते हैं (गीता—दसवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

५—उनका उद्धार भगवान् करते हैं (गीता—बारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)।

६—ऐसे उपासकोंमें यदि कोई सूक्ष्म दोष रह जाता है, तो (भगवान्‌पर निर्भर होनेसे) सर्वज्ञ भगवान् कृपा करके उसको दूर कर देते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका अट्ठावनवाँ और छाछठवाँ श्लोक)।

७—ऐसे उपासकोंकी उपासना भगवान्‌की ही उपासना है। भगवान् सदा-सर्वदा पूर्ण हैं ही। अत: भगवान्‌की पूर्णतामें किंचिन्मात्र भी संदेह न रहनेके कारण उनमें सुगमतासे श्रद्धा हो जाती है। श्रद्धा होनेसे वे नित्य-निरन्तर भगवत्परायण हो जाते हैं। अत: भगवान् ही उन उपासकोंको बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिससे उन्हें भगवत्प्राप्ति हो जाती है (गीता—दसवें अध्यायका दसवाँ श्लोक)।

८—ऐसे उपासक भगवान्‌को परम कृपालु मानते हैं। अत: उनकी कृपाके आश्रयसे वे सब कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं। यही कारण है कि उनका साधन सुगम हो जाता है और भगवत्-कृपाके बलसे वे शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति कर लेते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायके छप्पनवेंसे अट्ठावनवे श्लोकतक)।

९—मनुष्यमें कर्म करनेका अभ्यास तो रहता ही है (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ श्लोक), इसलिये भक्तको अपने कर्म भगवान्‌के प्रति करनेमें केवल भाव ही बदलना पड़ता है; कर्म तो वे ही रहते हैं। अत: भगवान्‌के लिये कर्म करनेसे भक्त कर्म-बन्धनसे सुगमतापूर्वक मुक्त हो जाता है (गीता—अठारहवें अध्यायका छियालीसवाँ श्लोक)।

बलपर निर्भर होनेसे) अपनी माँको पकड़े रहता है और अपनी पकड़से ही अपनी रक्षा मानता है, ऐसे ही यह साधक अपने साधनके बलपर अपनी उन्नति मानता है (गीता—अठारहवें अध्यायके इक्यावनवेंसे तिरपनवें श्लोकतक)। इसीलिये श्रीरामचरितमानसमें भगवान्‌ने इसको अपने समझदार पुत्रकी उपमा दी है—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।
बालक सुत सम दास अमानी॥

(३। ४३। ४)

३—ज्ञानयोगियोंके द्वारा लक्ष्यप्राप्तिके प्रसंगमें चौथे अध्यायके उनतालीसवें श्लोकमें **'अचिरेण'** पद तत्त्वज्ञानके अनन्तर शान्तिकी प्राप्तिके लिये आया है, न कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये।

४—निर्गुण-उपासक तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति स्वयं करते हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका चौंतीसवाँ श्लोक)।

५—ये अपना उद्धार (निर्गुण-तत्त्वकी प्राप्ति) स्वयं करते हैं (गीता—पाँचवें अध्यायका चौबीसवाँ श्लोक)।

६—ऐसे उपासकोंमें यदि कोई कमी रह जाती है, तो उस कमीका अनुभव उनको विलम्बसे होता है और कमीको ठीक-ठीक पहचाननेमें भी कठिनाई होती है। हाँ, कमीको ठीक-ठीक पहचान लेनेपर ये भी उसे दूर कर सकते हैं।

७—चौथे अध्यायके चौंतीसवें और तेरहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें भगवान्‌ने ज्ञानयोगियोंको ज्ञानप्राप्तिके लिये गुरुकी उपासनाकी आज्ञा दी है। अत: निर्गुण-उपासनामें गुरुकी आवश्यकता भी है; किंतु गुरुकी पूर्णताका निश्चित पता न होनेपर अथवा गुरुके पूर्ण न होनेपर स्थिर श्रद्धा होनेमें कठिनाई होती है तथा साधनकी सफलतामें भी विलम्बकी सम्भावना रहती है।

८—ऐसे उपासक उपास्य-तत्त्वको निर्गुण, निराकार और उदासीन मानते हैं। अत: उन्हें भगवान्‌की कृपाका वैसा अनुभव नहीं होता। वे तत्त्वप्राप्तिमें आनेवाले विघ्नोंको अपनी साधनाके बलपर ही दूर करनेमें कठिनाईका अनुभव करते हैं। फलस्वरूप तत्त्वकी प्राप्तिमें भी उन्हें विलम्ब हो सकता है।

९—ज्ञानयोगी अपनी क्रियाओंको सिद्धान्तत: प्रकृतिके अर्पण करता है; किन्तु पूर्ण विवेक जाग्रत् होनेपर ही उसकी क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण हो सकती हैं। यदि

१०—हृदयमें पदार्थोंका आदर रहते हुए भी यदि वे प्राणियोंकी सेवामें लग जाते हैं तो उन्हें पदार्थोंका त्याग करनेमें कठिनाई नहीं होती। सत्पात्रोंके लिये पदार्थोंके त्यागमें तो और भी सुगमता है। फिर भगवान्‌के लिये तो पदार्थोंका त्याग बहुत ही सुगमतासे हो सकता है।	विवेककी किंचिन्मात्र भी कमी रही तो क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण नहीं होंगी और साधक कर्तृत्वाभिमान रहनेसे कर्म-बन्धनमें बँध जायगा।
११—इस साधनमें विवेक और वैराग्यकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी प्रेम और विश्वासकी है। जैसे, कौरवोंके प्रति द्वेष-वृत्ति रहते हुए भी द्रौपदीके पुकारनेमात्रसे भगवान् प्रकट हो जाते थे;[1] क्योंकि वह भगवान्‌को अपना मानती थी। भगवान् तो अपने साथ भक्तके प्रेम और विश्वासको ही देखते हैं, उसके दोषोंको नहीं। भगवान्‌के साथ अपनापनका सम्बन्ध जोड़ना उतना कठिन नहीं (क्योंकि भगवान्‌की ओरसे अपनापन स्वत: सिद्ध है), जितना कि पात्र बनना कठिन है।	१०—जबतक साधकके चित्तमें पदार्थोंका किंचिन्मात्र भी आदर तथा अपने कहलानेवाले शरीर और नाममें अहंता-ममता है, तबतक उसके लिये पदार्थोंको मायामय समझकर उनका त्याग करना कठिन होता है। ११—यह साधक पात्र बननेपर ही तत्त्वको प्राप्त कर सकेगा। पात्र बननेके लिये विवेक और तीव्र वैराग्यकी आवश्यकता होगी, जिनको आसक्ति रहते हुए प्राप्त करना कठिन है।

'अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते'— 'देही', 'देहभृत्' आदि पदोंका अर्थ साधारणतया 'देहधारी पुरुष' लिया जाता है। प्रसंगानुसार इनका अर्थ 'जीव' और 'आत्मा' भी लिया जाता है। यहाँ **'देहवद्भि:'**[2] पदका अर्थ 'देहाभिमानी मनुष्य' लेना चाहिये; क्योंकि निर्गुण-उपासकोंके लिये इसी श्लोकके पूर्वार्धमें **'अव्यक्तासक्तचेतसाम्'** पद आया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि वे निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं; परन्तु उनका चित्त देहाभिमानके कारण निर्गुण-तत्त्वमें आविष्ट नहीं हुआ है। देहाभिमानके कारण ही उन्हें साधनमें अधिक क्लेश होता है।

निर्गुण-उपासनामें देहाभिमान ही मुख्य बाधा है—**'देहाभिमानिनि सर्वे दोषा: प्रादुर्भवन्ति'**—इस बाधाकी ओर ध्यान दिलानेके लिये ही भगवान्‌ने **'देहवद्भि:'** पद दिया है। इस देहाभिमानको दूर करनेके लिये ही (अर्जुनके पूछे बिना ही) भगवान्‌ने तेरहवाँ और चौदहवाँ अध्याय कहा है। उनमें भी तेरहवें अध्यायका प्रथम श्लोक देहाभिमान मिटानेके लिये ही कहा गया है।

ब्रह्मके निर्गुण-निराकार स्वरूपकी प्राप्तिको यहाँ **'अव्यक्ता गति:'** कहा गया है। साधारण मनुष्योंकी स्थिति व्यक्त अर्थात् देहमें होती है। इसलिये उन्हें अव्यक्तमें स्थित होनेमें कठिनाईका अनुभव होता है। यदि साधक अपनेको देहवाला न माने, तो उसकी अव्यक्तमें सुगमता और शीघ्रतापूर्वक स्थिति हो सकती है।

परिशिष्ट भाव—निर्गुणोपासनामें जो देहसहित है, वह **'उपासक'** (जीव) है और जो देहरहित है, वह **'उपास्य'** (ब्रह्म) है। देहके साथ माना हुआ सम्बन्ध ही जीव और ब्रह्मकी एकतामें खास बाधक है। इसलिये देहाभिमानीके लिये निर्गुणोपासनाकी सिद्धि कठिनतासे तथा देरीसे होती है। परन्तु सगुणोपासनामें भगवान्‌की विमुखता बाधक है, देहाभिमान बाधक नहीं है। इसलिये सगुणोपासक संसारसे विमुख होकर भगवान्‌के सम्मुख हो जाता है, साधनके आश्रित न होकर भगवान्‌के आश्रित हो जाता है। अत: भगवान् कृपा करके उसका शीघ्र ही उद्धार कर देते हैं (गीता—बारहवें अध्यायका

१-यह बात उन भक्तोंके लिये है, जिनके स्मरणमात्रसे भगवान् प्रकट हो जाते हैं, सर्वसाधारणके लिये नहीं है। जो भक्त सर्वथा भगवान्‌पर निर्भर हो जाता है एवं जिसकी भगवान्‌के साथ इतनी प्रगाढ़ आत्मीयता होती है कि केवल स्मरणसे भगवान् प्रकट हो जाते हैं, उसके दोष दूर करनेका दायित्व भगवान्‌पर आ जाता है।

२-यहाँ 'देह' शब्दमें 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादय:॥'—इस कारिकाके अनुसार संसर्ग अर्थमें 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (५।२।९४), इस पाणिनिसूत्रसे 'मतुप्' प्रत्यय किया गया है। 'देहवद्भि:' पदका अर्थ है—वे मनुष्य, जिनका देहके साथ दृढ़तापूर्वक सम्बन्ध माना हुआ है।

छठे अध्यायके सत्ताईसवें श्लोकमें 'ब्रह्मभूत' होनेपर सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतायी गयी है, जबकि यहाँ 'देहभूत' होनेके कारण दु:खपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतायी गयी है।

सातवाँ और आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक)। यह सगुणोपासनाकी विलक्षणता है!

सगुणोपासनामें भक्त जगत्‌को मिथ्या मानकर उसके त्यागपर जोर नहीं देता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें जड़-चेतन, सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—'**सदसच्चाहमर्जुन**' (गीता ९। १९)। इसलिये सगुणकी उपासना समग्रकी उपासना है। गीताने सगुणको समग्र माना है और ब्रह्म, जीव, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन सबको समग्र भगवान्‌के ही अन्तर्गत माना है (गीता—सातवें अध्यायका उनतीसवाँ-तीसवाँ श्लोक)। इसलिये गीताको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि निर्गुणोपासना (ब्रह्मकी उपासना) समग्र भगवान्‌के एक अंगकी उपासना है और सगुणोपासना स्वयं समग्र भगवान्‌की उपासना है—'**त्वां पर्युपासते**' (गीता १२। १), '**मां ध्यायन्त उपासते**' (१२। ६)।

जो समग्र, भगवान्‌के एक अंगकी उपासना करता है, उसको भी अन्तमें समग्रकी प्राप्ति होती है—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव**' (गीता १२। ४), '**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्**' (१८। ५५)। अत: जिसको निर्गुण अच्छा लगता हो, वह निर्गुणकी उपासना करे, पर उसको निर्गुणका आग्रह रखकर सगुणका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। सगुणका तिरस्कार, निन्दा, खण्डन करना निर्गुणोपासकके लिये बहुत घातक है अर्थात् उसकी साधनाके सिद्ध होनेमें बहुत बाधक है। कारण कि अपरा प्रकृति भगवान्‌की है; अत: उसकी निन्दा करनेसे वह भगवान्‌की निन्दा होती है। गुणोंका खण्डन करनेसे गुणोंकी सत्ता आ जाती है, जो बाधक होती है; क्योंकि सत्ता माने बिना साधक निराकरण किसका करेगा? अत: साधक यदि दूसरेकी निन्दा, तिरस्कार न करके तत्परतापूर्वक अपने साधनमें लगा रहे तो आगे चलकर सभी साधक एक हो जाते हैं; क्योंकि तत्त्व एक ही है*। सगुणकी उपेक्षा करनेसे साधक मुक्त तो हो सकता है, पर मतभेद नहीं मिट सकता। परन्तु सगुणकी उपेक्षा न रहनेसे मतभेद भी नहीं रहता और साधकको समग्रकी प्राप्ति हो जाती है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ ६॥

तु	= परन्तु	**सन्न्यस्य**	= अर्पण करके (और)	**माम्**	= मेरा
ये	= जो			**एव**	= ही
सर्वाणि	= सम्पूर्ण	**मत्पराः**	= मेरे परायण होकर	**ध्यायन्तः**	= ध्यान करते हुए
कर्माणि	= कर्मोंको	**अनन्येन**	= अनन्य-	**उपासते**	= (मेरी) उपासना करते हैं।
मयि	= मेरे	**योगेन**	= योग-(सम्बन्ध-) से		

व्याख्या—[ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने अनन्य भक्तके लक्षणोंमें तीन विध्यात्मक ('**मत्कर्मकृत्**', '**मत्परमः**' और '**मद्भक्तः**') और दो निषेधात्मक ('**संगवर्जितः**' और '**निर्वैरः**') पद दिये थे। उन्हीं पदोंका संकेत इस श्लोकमें इस प्रकार किया गया है—

(१) '**सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य**' पदोंसे '**मत्कर्मकृत्**' की ओर लक्ष्य है।

(२) '**मत्पराः**' पदसे '**मत्परमः**' का संकेत है।

(३) '**अनन्येनैव योगेन**' पदोंमें '**मद्भक्तः**' का लक्ष्य है।

(४) भगवान्‌में ही अनन्यतापूर्वक लगे रहनेके कारण उनकी कहीं भी आसक्ति नहीं होती; अत: वे '**संगवर्जितः**' हैं।

(५) कहीं भी आसक्ति न रहनेके कारण उनके मनमें किसीके प्रति भी वैर, द्वेष, क्रोध आदिका भाव नहीं रहता, इसलिये '**निर्वैरः**' पदका भाव भी इसीके अन्तर्गत आ जाता है। परन्तु भगवान्‌ने इसे महत्त्व देनेके लिये आगे तेरहवें श्लोकमें सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें सबसे पहले '**अद्वेष्टा**' पदका प्रयोग किया है। अत: साधकको किसीमें किंचिन्मात्र भी द्वेष नहीं रखना चाहिये]।

'**ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य**'—अब

---

* **वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥**

(श्रीमद्भा० १। २। ११)

'तत्त्वज्ञ महापुरुष उस ज्ञानस्वरूप एवं अद्वितीय तत्त्वको ही ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—इन तीन नामोंसे कहते हैं।'

यहाँसे निर्गुणोपासनाकी अपेक्षा सगुणोपासनाकी सुगमता बतानेके लिये '**तु**' पदसे प्रकरण-भेद करते हैं।

यद्यपि '**कर्माणि**' पद स्वयं ही बहुवचनान्त होनेसे सम्पूर्ण कर्मोंका बोध कराता है, तथापि इसके साथ '**सर्वाणि**' विशेषण देकर मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले सभी लौकिक (शरीर-निर्वाह और आजीविका-सम्बन्धी) एवं पारमार्थिक (जप-ध्यान-सम्बन्धी) शास्त्रविहित कर्मोंका समावेश किया गया है (गीता—नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)।

यहाँ '**मयि सन्न्यस्य**' पदोंसे भगवान्‌का आशय क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग करनेका नहीं है। कारण कि एक तो स्वरूपसे कर्मोंका त्याग सम्भव नहीं (गीता—तीसरे अध्यायका पाँचवाँ और अठारहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। दूसरे, यदि सगुणोपासक मोहपूर्वक शास्त्रविहित क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग करता है, तो उसका यह त्याग 'तामस' होगा (गीता—अठारहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक) और यदि दु:खरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे वह उनका त्याग करता है, तो यह त्याग 'राजस' होगा (गीता—अठारहवें अध्यायका आठवाँ श्लोक)। अत: इस रीतिसे त्याग करनेपर कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं छूटेगा। कर्मबन्धनसे मुक्त होनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करे; क्योंकि ममता, आसक्ति और फलेच्छासे किये गये कर्म ही बाँधनेवाले होते हैं।

यदि साधकका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति होता है, तो वह पदार्थोंकी इच्छा नहीं करता और अपने-आपको भगवान्‌का समझनेके कारण उसकी ममता शरीरादिसे हटकर एक भगवान्‌में ही हो जाती है। स्वयं भगवान्‌के अर्पित होनेसे उसके सम्पूर्ण कर्म भी भगवदर्पित हो जाते हैं।

भगवान्‌के लिये कर्म करनेके विषयमें कई प्रकार हैं, जिनको गीतामें 'मदर्पण कर्म', 'मदर्थ कर्म' और 'मत्कर्म' नामसे कहा गया है।

१—'मदर्पण कर्म' उन कर्मोंको कहते हैं, जिनका उद्देश्य पहले कुछ और हो; किन्तु कर्म करते समय अथवा कर्म करनेके बाद उनको भगवान्‌के अर्पण कर दिया जाय।

२—'मदर्थ कर्म' वे कर्म हैं, जो आरम्भसे ही भगवान्‌के लिये किये जायँ अथवा जो भगवत्सेवारूप हों। भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करना भगवान्‌की आज्ञा मानकर कर्म करना, और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्म करना—ये सभी भगवदर्थ कर्म हैं।

३—भगवान्‌का ही काम समझकर सम्पूर्ण लौकिक (व्यापार, नौकरी आदि) और भगवत्सम्बन्धी (जप, ध्यान आदि) कर्मोंको करना 'मत्कर्म' है।

वास्तवमें कर्म कैसे भी किये जायँ, उनका उद्देश्य एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही होना चाहिये।

उपर्युक्त तीनों ही प्रकारों-(मदर्पण-कर्म, मदर्थ-कर्म, मत्कर्म-)से सिद्धि प्राप्त करनेवाले साधकका कर्मोंसे किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि उसमें न तो फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान है और न पदार्थोंमें और शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंमें ममता ही है। जब कर्म करनेके साधन शरीर, मन, बुद्धि आदि ही अपने नहीं हैं, तो फिर कर्मोंमें ममता हो ही कैसे सकती है। इस प्रकार कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हो जाना ही वास्तविक समर्पण है। सिद्ध पुरुषोंकी क्रियाओंका स्वत: ही समर्पण होता है और साधक पूर्ण समर्पणका उद्देश्य रखकर वैसे ही कर्म करनेकी चेष्टा करता है।

जैसे भक्तियोगी अपनी क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करके कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है, ऐसे ही ज्ञानयोगी क्रियाओंको प्रकृतिसे हुई समझकर अपनेको उनसे सर्वथा असंग और निर्लिप्त अनुभव करके कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

'**मत्परा:**'—परायण होनेका अर्थ है—भगवान्‌को परमपूज्य और सर्वश्रेष्ठ समझकर भगवान्‌के प्रति समर्पण-भावसे रहना। सर्वथा भगवान्‌के परायण होनेसे सगुण-उपासक अपने-आपको भगवान्‌का यन्त्र समझता है। अत: शुभ क्रियाओंको वह भगवान्‌के द्वारा करवायी हुई मानता है तथा संसारका उद्देश्य न रहनेके कारण उसमें भोगोंकी कामना नहीं रहती और कामना न रहनेके कारण उससे अशुभ क्रियाएँ होती ही नहीं।

'**अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते**'—इन पदोंमें इष्ट-सम्बन्धी और उपाय-सम्बन्धी—दोनों प्रकारकी अनन्यताका संकेत है अर्थात् उन भक्तोंके इष्ट भगवान् ही हैं; उनके सिवाय अन्य कोई साध्य उनकी दृष्टिमें है ही नहीं और उनकी प्राप्तिके लिये आश्रय भी उन्हींका है। वे भगवत्कृपासे ही साधनकी सिद्धि मानते हैं, अपने पुरुषार्थ या साधनके बलसे नहीं। वे उपाय भी भगवान्‌को मानते हैं और उपेय भी। वे एक भगवान्‌का ही लक्ष्य, ध्येय रखकर उपासना अर्थात् जप, ध्यान, कीर्तन आदि करते हैं।

'**मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई**'—इस प्रकार केवल भगवान्‌से ही सम्बन्ध मानना 'अनन्ययोग' है।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

पार्थ	=हे पार्थ!	**तेषाम्**	=उन भक्तोंका		समुद्रसे
मयि	=मुझमें	**अहम्**	=मैं	**नचिरात्**	=शीघ्र ही
आवेशित-		**मृत्युसंसार-**		**समुद्धर्ता**	=उद्धार करनेवाला
चेतसाम्	=आविष्ट चित्तवाले	**सागरात्**	=मृत्युरूप संसार-	**भवामि**	=बन जाता हूँ।

व्याख्या—**'तेषामहं समुद्धर्ता .... मय्यावेशितचेतसाम्'**—जिन साधकोंका लक्ष्य, उद्देश्य, ध्येय भगवान् ही बन गये हैं और जिन्होंने भगवान्‌में ही अनन्य प्रेमपूर्वक अपने चित्तको लगा दिया है तथा जो स्वयं भी भगवान्‌में ही लग गये हैं, उन्हींके लिये यहाँ **'मय्यावेशितचेतसाम्'** पद आया है।

जैसे समुद्रमें जल-ही-जल होता है, ऐसे ही संसारमें मौत-ही-मौत है। संसारमें उत्पन्न होनेवाली कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो कभी क्षणभरके लिये भी मौतके थपेड़ोंसे बचती हो अर्थात् उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण मौतके तरफ ही जा रही है। इसलिये संसारको 'मृत्यु-संसार-सागर' कहा गया है।

मनुष्यमें अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों वृत्तियाँ रहती हैं। संसारकी घटना, परिस्थिति तथा प्राणी-पदार्थोंमें अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियाँ राग-द्वेष उत्पन्न करके मनुष्यको संसारमें बाँध देती हैं (गीता—सातवें अध्यायका सत्ताईसवाँ श्लोक)। यहाँतक देखा जाता है कि साधक भी सम्प्रदाय-विशेष और संत-विशेषमें अनुकूल-प्रतिकूल भावना करके राग-द्वेषके शिकार बन जाते हैं, जिससे वे संसार-समुद्रसे जल्दी पार नहीं हो पाते। कारण कि तत्त्वको चाहनेवाले साधकके लिये साम्प्रदायिकताका पक्षपात बहुत बाधक है। सम्प्रदायका मोहपूर्वक आग्रह मनुष्यको बाँधता है। इसलिये गीतामें भगवान्‌ने जगह-जगह इन द्वन्द्वों-(राग और द्वेष-) से छूटनेके लिये विशेष जोर दिया है।[1]

यदि साधक भक्त अपनी सारी अनुकूलताएँ भगवान्‌में कर ले अर्थात् एकमात्र भगवान्‌से ही अनन्य प्रेमका सम्बन्ध जोड़ ले और सारी प्रतिकूलताएँ संसारमें कर ले अर्थात् संसारकी सेवा करके अनुकूलताकी इच्छासे विमुख हो जाय, तो वह इस संसार-बन्धनसे बहुत जल्दी मुक्त हो सकता है। संसारमें अनुकूल और प्रतिकूल वृत्तियोंका होना ही संसारमें बँधना है।

भगवान्‌का यह सामान्य नियम है कि जो जिस भावसे उनकी शरण लेता है, उसी भावसे भगवान् भी उसको आश्रय देते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४। ११)। अत: वे कहते हैं कि यद्यपि मैं सबमें समभावसे स्थित हूँ—**'समोऽहं सर्वभूतेषु'** (गीता ९। २९), तथापि जिनका एकमात्र प्रिय मैं हूँ, जो मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्म करते हैं और मेरे परायण होकर नित्य-निरन्तर मेरे ही ध्यान-जप-चिन्तन आदिमें लगे रहते हैं, ऐसे भक्तोंका मैं स्वयं मृत्यु-संसारसागरसे बहुत जल्दी और सम्यक् प्रकारसे उद्धार कर देता हूँ[2]।

परिशिष्ट भाव—छठे अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्‌ने सब तरहके सामान्य साधकोंके लिये अपने द्वारा अपना उद्धार करनेकी बात कही थी—**'उद्धरेदात्मनात्मानम्'** और यहाँ कहते हैं कि भक्तोंका उद्धार मैं करता हूँ—**'तेषामहं समुद्धर्ता'**। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक साधक आरम्भमें स्वयं ही साधनमें लगता है। साधनमें लगनेवालोंमें जो साधक भगवान्‌के आश्रित होता है, उसका उद्धार भगवान् करते हैं; क्योंकि उसका भगवान्‌पर ही भरोसा होता है कि मेरा उद्धार

१-उदाहरणार्थ—'निर्द्वन्द्वः' (२। ४५); 'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो' (५। ३); 'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः' (७। २८); 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः' (१५। ५); 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते' (१८। १०); 'रागद्वेषौ व्युदस्य च' (१८। ५१)।

२-'समुद्धर्ता भवामि' पदोंके अन्तर्गत भगवान्‌के ये भाव भी समझने चाहिये कि वह सगुणोपासक मेरी कृपासे साधनकी सब विघ्न-बाधाओंको पार करके मेरी कृपासे ही मेरी प्राप्ति कर लेता है (गीता—अठारहवें अध्यायके छप्पनवेंसे अट्ठावनवें श्लोकतक); साधनकी कमीको पूरा करके मैं उसे अपनी प्राप्ति करा देता हूँ (गीता—नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक); उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ तत्त्वज्ञानसे उनके अज्ञानजनित अन्धकारका नाश कर देता हूँ (गीता—दसवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक) और उन्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देता हूँ (गीता—अठारहवें अध्यायका छाछठवाँ श्लोक)।

वे ही करेंगे। वह अपने उद्धारकी चिन्ता न करके केवल भगवान्‌के भजनमें ही लगा रहता है। उसके साधन और साध्य भगवान् ही होते हैं। परन्तु ज्ञानमार्गमें चलनेवाला अपना उद्धार स्वयं करता है।

स्वरूप-बोध होनेपर भक्ति प्राप्त हो जाय—यह नियम नहीं है, पर भक्ति प्राप्त होनेपर स्वरूप-बोध भी हो जाता है, इसलिये भगवान्‌ने कहा है—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

(मानस, अरण्य० ३६। ५)

भगवान् अपने भक्तोंको कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों दे देते हैं (गीता—दसवें अध्यायका दसवाँ-ग्यारहवाँ श्लोक); क्योंकि भगवान्‌का स्वरूप समग्र है।

देहाभिमानके कारण ज्ञानमार्गके साधकका चित्त अव्यक्तमें 'आसक्त' होता है—'**अव्यक्तासक्तचेतसाम्**' (गीता १२। ५)। पर भक्तका चित्त भगवान्‌में 'आविष्ट' होता है—'**मय्यावेशितचेतसाम्**'। ज्ञानमें विवेक मुख्य है, भक्तिमें विश्वास मुख्य है। ज्ञानमें अपरा प्रकृति त्याज्य होती है, भक्तिमें वह भगवत्स्वरूप होती है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ योगी बताया तथा छठे और सातवें श्लोकमें यह बात कही कि ऐसे भक्तोंका मैं शीघ्र उद्धार करता हूँ। इसलिये अब भगवान् अर्जुनको ऐसा श्रेष्ठ योगी बननेके लिये पहले आठवें श्लोकमें समर्पणयोगरूप साधनका वर्णन करके फिर नवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें क्रमशः अभ्यासयोग, भगवदर्थ कर्म और सर्वकर्मफलत्यागरूप साधनोंका वर्णन करते हैं।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ ८॥

मयि	= (तू) मुझमें	**एव**	= ही	**मयि**	= मुझमें
मनः	= मनको	**बुद्धिम्**	= बुद्धिको	**एव**	= ही
आधत्स्व	= स्थापन कर (और)	**निवेशय**	= प्रविष्ट कर;	**निवसिष्यसि**	= निवास करेगा—
मयि	= मुझमें	**अतः**	= इसके	**संशयः, न**	= (इसमें) संशय नहीं है।
		ऊर्ध्वम्	= बाद (तू)		

व्याख्या—'**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय**'—भगवान्‌के मतमें वे ही पुरुष उत्तम योगवेत्ता हैं, जिनको भगवान्‌के साथ अपने नित्ययोगका अनुभव हो गया है। सभी साधकोंको उत्तम योगवेत्ता बनानेके उद्देश्यसे भगवान् अर्जुनको निमित्त बनाकर यह आज्ञा देते हैं कि मुझ परमेश्वरको ही परमश्रेष्ठ और परम प्रापणीय मानकर बुद्धिको मेरेमें लगा दे और मेरेको ही अपना परम प्रियतम मानकर मनको मेरेमें लगा दे।

भगवान्‌में हमारी स्वतःसिद्ध स्थिति (नित्ययोग) है; परन्तु भगवान्‌में मन-बुद्धिके न लगनेके कारण हमें भगवान्‌के साथ अपने स्वतःसिद्ध नित्य-सम्बन्धका अनुभव नहीं होता। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मन-बुद्धिको मेरेमें लगा, फिर तू मेरेमें ही निवास करेगा (जो पहलेसे ही है) अर्थात् तुझे मेरेमें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जायगा।

मन-बुद्धि लगानेका तात्पर्य यह है कि अबतक मनुष्य जिस मनसे जड संसारमें ममता, आसक्ति, सुख-भोगकी इच्छा, आशा आदिके कारण बार-बार संसारका ही चिन्तन करता रहा है और बुद्धिसे संसारमें ही अच्छे-बुरेका निश्चय करता रहा है, उस मनको संसारसे हटाकर भगवान्‌में लगाये तथा बुद्धिके द्वारा दृढ़तासे निश्चय करे कि 'मैं केवल भगवान्‌का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं तथा मेरे लिये सर्वोपरि, परमश्रेष्ठ एवं परम प्रापणीय भगवान् ही हैं।' ऐसा दृढ़ निश्चय करनेसे संसारका चिन्तन और महत्त्व समाप्त हो जायगा और एक भगवान्‌के साथ ही सम्बन्ध रह जायगा। यही मन-बुद्धिका भगवान्‌में लगाना है।

मन-बुद्धि लगानेमें भी बुद्धिका लगाना मुख्य है। किसी विषयमें पहले बुद्धिका ही निश्चय होता है और फिर बुद्धिके उस निश्चयको मन स्वीकार कर लेता है। साधन करनेमें भी पहले (उद्देश्य बनानेमें) बुद्धिकी प्रधानता होती है, फिर मनकी प्रधानता होती है। जिन पुरुषोंका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति नहीं है, उनके मन-बुद्धि भी, वे जिस विषयमें लगाना

चाहेंगे, उस विषयमें लग सकते हैं। उस विषयमें मन-बुद्धि लग जानेपर उन्हें सिद्धियाँ तो प्राप्त हो सकती हैं, पर (भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य न होनेसे) भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। अत: साधकको चाहिये कि बुद्धिसे यह दृढ़ निश्चय कर ले कि 'मुझे भगवत्प्राप्ति ही करनी है।' इस निश्चयमें बड़ी शक्ति है। ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि होनेमें सबसे बड़ी बाधा है—भोग और संग्रहका सुख लेना। सुखकी आशासे ही मनुष्यकी वृत्तियाँ धन, मान-बड़ाई आदि पानेका उद्देश्य बनाती हैं, इसलिये उसकी बुद्धि बहुत भेदोंवाली तथा अनन्त हो जाती है (गीता—दूसरे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)। परन्तु अगर भगवत्प्राप्तिका ही एक निश्चय हो, तो इस निश्चयमें इतनी पवित्रता और शक्ति है कि दुराचारी-से-दुराचारी पुरुषको भी भगवान् साधु माननेके लिये तैयार हो जाते हैं! इस निश्चयमात्रके प्रभावसे वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्ति प्राप्त कर लेता है (गीता—नवें अध्यायका तीसवाँ-इकतीसवाँ श्लोक)।

'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं'—ऐसा निश्चय (साधककी दृष्टिमें) बुद्धिमें हुआ प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है। बुद्धिमें ऐसा निश्चय दीखनेपर भी साधकको इस बातका पता नहीं होता कि वह 'स्वयं' पहलेसे ही भगवान्‌में स्थित है। वह चाहे इस बातको न भी जाने, पर वास्तविकता यही है। 'स्वयं' भगवान्‌में स्थित होनेकी पहचान यही है कि इस सम्बन्धकी कभी विस्मृति नहीं होती। अगर यह केवल बुद्धिकी बात हो तो भूली भी जा सकती है, पर 'मैं'-पनकी बातको साधक कभी नहीं भूलता। जैसे, 'मैं विवाहित हूँ' यह 'मैं'-पनका निश्चय है, बुद्धिका नहीं। इसीलिये मनुष्य इस बातको कभी नहीं भूलता। अगर कोई यह निश्चय कर ले कि मैं अमुक गुरुका शिष्य हूँ, तो इस सम्बन्धके लिये कोई अभ्यास न करनेपर भी यह निश्चय उसके भीतर अटल रहता है। स्मृतिमें तो स्मृति रहती ही है, विस्मृतिमें भी सम्बन्धकी स्मृतिका अभाव नहीं होता; क्योंकि सम्बन्धका निश्चय 'मैं'-पनमें है। इस प्रकार संसारमें माना हुआ सम्बन्ध भी जब स्मृति और विस्मृति दोनों अवस्थाओंमें अटल रहता है, तब भगवान्‌के साथ जो सदासे ही नित्य-सम्बन्ध है, उसकी विस्मृति कैसे हो सकती है? अत: 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं'—इस प्रकार 'मैं'-पन (स्वयं-) के भगवान्‌में लग जानेसे मन-बुद्धि भी स्वत: भगवान्‌में लग जाते हैं।

मन-बुद्धिमें अन्त:करण-चतुष्टयका अन्तर्भाव है। मनके अन्तर्गत चित्तका और बुद्धिके अन्तर्गत अहंकारका अन्तर्भाव है। मन-बुद्धि भगवान्‌में लगनेसे अहंकारका आधार 'स्वयं' भगवान्‌में लग जायगा और परिणामस्वरूप 'मैं भगवान्‌का ही हूँ और भगवान् ही मेरे हैं' ऐसा भाव हो जायगा। इस भावमें निर्विकल्प स्थिति होनेसे 'मैं'-पन भगवान्‌में लीन हो जायगा।

विशेष बात

साधारणतया अपना स्वरूप-('मैं'-पनका आधार 'स्वयम्') मन, बुद्धि, शरीर आदिके साथ दीखता है, पर वास्तवमें इनके साथ है नहीं। सामान्य रूपसे प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव कर सकता है कि बचपनसे लेकर अबतक शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सब-के-सब बदल गये, पर मैं वही हूँ। अत: 'मैं बदलनेवाला नहीं हूँ' इस बातको आजसे ही दृढ़तापूर्वक मान लेना चाहिये (साधारणतया मनुष्य बुद्धिसे ही समझनेकी चेष्टा करता है, पर यहाँ स्वयंसे जाननेकी बात है)।

विचार करें—एक ओर अपना स्वरूप नहीं बदला, यह सभीका प्रत्यक्ष अनुभव है और आस्तिकों एवं भगवान्‌में श्रद्धा रखनेवालोंके भगवान् भी कभी नहीं बदले, दूसरी ओर शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि आदि सब-के-सब बदल गये और संसार भी बदलता हुआ प्रत्यक्ष दीखता है। इससे सिद्ध हुआ कि कभी न बदलनेवाले 'स्वयम्' और 'भगवान्' दोनों एक जातिके हैं, जब कि निरन्तर बदलनेवाले 'शरीर' और 'संसार' दोनों एक जातिके हैं। न बदलनेवाले 'स्वयम्' और 'भगवान्' दोनों ही व्यक्तरूपसे नहीं दीखते, जब कि बदलनेवाले शरीर और संसार—दोनों ही व्यक्तरूपसे प्रत्यक्ष दीखते हैं। बदलनेवाले मन-बुद्धि इन्द्रियाँ-शरीरादिको पकड़कर ही 'स्वयम्' अपनेको बदलनेवाला मान लेता है। वास्तवमें 'अहं'का जो सत्तारूपसे आधार ('स्वयम्') है, वह कभी नहीं बदलता; क्योंकि वह परमात्माका अंशस्वरूप है।

वास्तवमें 'मैं क्या हूँ' इसका तो पता नहीं, पर 'मैं हूँ' इस होनेपनमें थोड़ा भी सन्देह नहीं है। जैसे संसार प्रत्यक्ष दीखता है, ऐसे ही 'मैं'-पनका भी भान होता है। इसलिये तत्त्वत: 'मैं' क्या है, इसकी खोज करना साधकके लिये बहुत उपयोगी है।

'मैं' क्या है, इसका तो पता नहीं; परन्तु संसार (शरीर)

क्या है, इसका तो पता है ही। संसार (शरीर) उत्पत्ति-विनाशवाला है, सदा एकरस रहनेवाला नहीं है—यह सबका अनुभव है। इस अनुभवको निरन्तर जाग्रत् रखना चाहिये। यह नियम है कि 'संसार' और 'मैं'—दोनोंमेंसे किसी एकका भी ठीक-ठीक ज्ञान होनेपर दूसरेके स्वरूपका ज्ञान अपने-आप हो जाता है।

'मैं' का प्रकाशक और आधार (अपना स्वरूप) चेतन और नित्य है। इसलिये उत्पत्ति-विनाशवाले जड संसारसे स्वरूपका कोई सम्बन्ध नहीं है। स्वरूपका तो भगवान्से स्वत:सिद्ध सम्बन्ध है। इस सम्बन्धको पहचानना ही 'मैं' की वास्तविकताका अनुभव करना है। इस सम्बन्धको पहचान लेनेपर मन-बुद्धि स्वत: भगवान्में लग जायँगे*।

'निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः'—यहाँ **'अत ऊर्ध्वम्'**—पदोंका भाव यह है कि जिस क्षण मन-बुद्धि भगवान्में पूरी तरह लग जायँगे अर्थात् मन-बुद्धिमें किंचिन्मात्र भी अपनापन नहीं रहेगा, उसी क्षण भगवत्प्राप्ति हो जायगी। ऐसा नहीं है कि मन-बुद्धि पूर्णतया लगनेके बाद भगवत्प्राप्तिमें कालका कोई व्यवधान रह जाय।

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन! मुझमें ही मन-बुद्धि लगानेपर तू मुझमें निवास करेगा, इसमें संशय नहीं है। इससे ऐसा मालूम देता है कि अर्जुनके हृदयमें कुछ संशय है, तभी भगवान् **'न संशयः'** पद देते हैं। यदि संशयकी सम्भावना न होती, तो इस पदको देनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती। वह संशय क्या है? मनुष्यके हृदयमें प्राय: यह बात बैठी हुई है कि कर्म अच्छे होंगे, आचरण अच्छे होंगे, एकान्तमें ध्यान लगायेंगे, तभी परमात्माकी प्राप्ति होगी, और यदि इस प्रकार साधन नहीं कर पाये, तो परमात्मप्राप्ति असम्भव है। इस भ्रमको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि मेरी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर मन-बुद्धिको मेरेमें लगाना जितना कीमती है, ये सब साधन मिलकर भी उतने कीमती नहीं हो सकते। अत: मन-बुद्धिको मेरेमें लगानेसे निश्चय ही मेरी प्राप्ति होगी, इसमें कोई संशय नहीं है—**'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥'** (गीता ८। ७)।

जबतक बुद्धिमें संसारका महत्त्व है और मनसे संसारका चिन्तन होता रहता है, तबतक (परमात्मामें स्वाभाविक स्थिति होते हुए भी) अपनी स्थिति संसारमें ही समझनी चाहिये। संसारमें स्थिति अर्थात् संसारका संग रहनेसे ही संसारचक्रमें घूमना पड़ता है।

उपर्युक्त पदोंसे अर्जुनका संशय दूर करते हुए भगवान् कहते हैं कि तू यह चिन्ता मत कर कि मेरेमें मन-बुद्धि सर्वथा लग जानेपर तेरी स्थिति कहाँ होगी। जिस क्षण तेरे मन-बुद्धि एकमात्र मेरेमें सर्वथा लग जायँगे, उसी क्षण तू मेरेमें ही निवास करेगा।

मन-बुद्धि भगवान्में लगानेके सिवाय साधकके लिये और कोई कर्तव्य नहीं है। मन भगवान्में लगानेसे संसारका चिन्तन नहीं होगा और बुद्धि भगवान्में लगानेसे साधक संसारके आश्रयसे रहित हो जायगा। संसारका किसी प्रकारका चिन्तन और आश्रय न रहनेसे भगवान्का ही चिन्तन और भगवान्का ही आश्रय होगा, जिससे भगवान्की ही प्राप्ति होगी।

यहाँ मनके साथ 'चित्त' को तथा बुद्धिके साथ 'अहम्' को भी ले लेना चाहिये; क्योंकि भगवान्में चित्त और अहम्के लगे बिना 'तू मेरेमें ही निवास करेगा' यह कहना सार्थक नहीं होगा।

सम्पूर्ण सृष्टिके एकमात्र ईश्वर-(परमात्मा-) का ही साक्षात् अंश यह जीवात्मा है। परन्तु यह इस सृष्टिके एक तुच्छ अंश (शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि)-को अपना मानकर इनको अपनी ओर खींचता है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक) अर्थात् इनका स्वामी बन बैठता है। वह (जीवात्मा) इस बातको सर्वथा भूल जाता है कि ये मन-बुद्धि आदि भी तो उसी परमात्माकी समष्टि सृष्टिके ही अंश हैं। मैं उसी परमात्माका अंश हूँ और सर्वदा उसीमें स्थित हूँ, इसको भूलकर वह अपनी अलग सत्ता मानने लगता है। जैसे, एक करोड़पतिका मूर्ख पुत्र उससे अलग होकर अपनी विशाल कोठीके एक-दो कमरोंपर अपना अधिकार जमाकर अपनी उन्नति समझ लेता है, पर जब उसे अपनी भूल समझमें आ जाती है, तब उसे करोड़पतिका उत्तराधिकारी होनेमें कठिनाई नहीं होती। इसी लक्ष्यसे भगवान् कहते हैं कि जब तू इन व्यष्टि मन-बुद्धिको मेरे अर्पण कर देगा (जो स्वत: ही मेरे हैं; क्योंकि मैं ही समष्टि मन-बुद्धिका स्वामी हूँ) तो स्वयं इनसे मुक्त होकर (वास्तवमें पहलेसे ही मेरा अंश और मेरेमें ही स्थित होनेके कारण) नि:सन्देह मेरेमें ही निवास करेगा।

*** चेतन और अविनाशी स्वरूप-(आत्मा-) को ही 'स्वयं' 'अहम्' का आधार, वास्तविक 'मैं', 'मैं' का प्रकाशक, आधार आदि नामोंसे कहा जाता है।**

भगवान्‌ने सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार—इस प्रकार आठ भागोंमें विभक्त अपनी 'अपरा (जड) प्रकृति' का वर्णन किया और पाँचवें श्लोकमें इससे भिन्न अपनी जीवभूता 'परा (चेतन) प्रकृति' का वर्णन किया। इन दोनों प्रकृतियोंको भगवान्‌ने अपनी कहा; अतः इन दोनोंके स्वामी भगवान् हैं। इन दोनोंमें, जड प्रकृतिका कार्य होनेसे 'अपरा प्रकृति' तो निकृष्ट है और चेतन परमात्माका अंश होनेसे 'परा प्रकृति' श्रेष्ठ है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका सातवाँ श्लोक)। परन्तु परा प्रकृति (जीव) भूलसे अपरा प्रकृतिको अपनी तथा अपने लिये मानकर उससे बँध जाती है तथा जन्म-मरणके चक्रमें पड़ जाती है (गीता—तेरहवें अध्यायका इक्कीसवाँ श्लोक)। इसलिये भगवान् इस श्लोकमें यह कह रहे हैं कि मन-बुद्धिरूप अपरा प्रकृतिसे अपनापन हटाकर इनको मेरी ही मान ले, जो वास्तवमें मेरी ही है। इस प्रकार मन-बुद्धिको मेरे अर्पण करनेसे इनके साथ भूलसे माना हुआ सम्बन्ध टूट जायगा और तेरेको मेरे साथ अपने स्वतःसिद्ध नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जायगा।

भगवत्प्राप्ति-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्‌की प्राप्ति किसी साधनविशेषसे नहीं होती। कारण कि ध्यानादि साधन शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके आश्रयसे होते हैं। शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिके कार्य होनेसे जड वस्तुएँ हैं। जड पदार्थोंके द्वारा चिन्मय भगवान् खरीदे नहीं जा सकते; क्योंकि प्रकृतिके सम्पूर्ण पदार्थ मिलकर भी चिन्मय परमात्माके समान कभी नहीं हो सकते।

सांसारिक पदार्थ कर्म (पुरुषार्थ) करनेसे ही प्राप्त होते हैं; अतः साधक भगवान्‌की प्राप्तिको भी स्वाभाविक ही कर्मोंसे होनेवाली मान लेता है। इसलिये भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें भी वह यही सोचता है कि मेरे द्वारा किये जानेवाले साधनसे ही भगवत्प्राप्ति होगी।

मनु-शतरूपा, पार्वती आदिको तपस्यासे ही अपने इष्टकी प्राप्ति हुई—इतिहास-पुराणादिमें इस प्रकारकी कथाएँ पढ़ने-सुननेसे साधकके अन्तःकरणमें ऐसी छाप पड़ जाती है कि साधनके द्वारा ही भगवान् मिलते हैं और उसकी यह धारणा क्रमशः दृढ़ होती रहती है। परन्तु साधनसे ही भगवान् मिलते हों, ऐसी बात वस्तुतः है नहीं। तपस्यादि साधनोंसे जहाँ भगवान्‌की प्राप्ति हुई दीखती है, वहाँ भी वह जडके साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा विच्छेद होनेसे ही हुई है, न कि साधनोंसे। साधनकी सार्थकता असाधन-(जडके साथ माने हुए सम्बन्ध-) का त्याग करनेमें ही है। भगवान् सबको सदा-सर्वदा स्वतः प्राप्त हैं ही; किन्तु जडके साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेपर ही उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। इसलिये भगवत्प्राप्ति जडताके द्वारा नहीं, प्रत्युत जडताके त्याग-(सम्बन्ध-विच्छेद-) से होती है। अतः जो साधक अपने साधनके बलसे भगवत्प्राप्ति मानते हैं, वे बड़ी भूलमें हैं। साधनकी सार्थकता केवल जडताका त्याग करानेमें है—इस रहस्यको न समझकर साधनमें ममता करने और उसका आश्रय लेनेसे साधकका जडके साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक हृदयमें जडताका किंचिन्मात्र भी आदर है, तबतक भगवत्प्राप्ति कठिन है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह साधनकी सहायतासे जडताके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर ले।

एकमात्र भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले साधनसे जडताका सम्बन्ध सुगमतापूर्वक छूट जाता है।

परिशिष्ट भाव—मन-बुद्धि भगवान्‌की अपरा प्रकृति है (गीता—सातवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक)। भगवान्‌की प्रकृति अर्थात् स्वभाव होते हुए भी अपरा प्रकृति भगवान्‌से भिन्न स्वभाववाली (जड़ एवं परिवर्तनशील) है। परन्तु परा प्रकृति (जीवात्मा) भगवान्‌से भिन्न स्वभाववाली नहीं है। इसलिये भगवान्‌के साथ साधर्म्य प्रकृतिका नहीं है, प्रत्युत जीव-(स्वयं-) का है—'**मम साधर्म्यमागताः**' (गीता १४। २)। मन-बुद्धि प्रकृतिकी जातिके हैं अर्थात् वे प्रकृतिके अंश हैं, पर हम स्वयं भगवान्‌के अंश हैं। अतः स्वयं और मन-बुद्धिमें जातीय भिन्नता है। आकर्षण एवं मिलन सजातीयतामें ही होता है, विजातीयतामें नहीं—यह नियम है। इसलिये मन-बुद्धि भगवान्‌में नहीं लग सकते, प्रत्युत स्वयं ही भगवान्‌में लग सकता है। मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता मान लेनेसे साधकसे यह भूल होती है कि वह स्वयं अलग रहकर मन-बुद्धिको भगवान्‌में लगानेका उद्योग करता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि भगवान्‌में स्वयं ही लगता है, मन-बुद्धि नहीं लगते। जब स्वयं भगवान्‌में लगता है, तब मन-बुद्धि अपने-आप छूट जाते हैं अर्थात् उनकी सत्ता रहती ही नहीं, प्रत्युत एक भगवान् ही रह जाते हैं। कारण कि वास्तवमें मन-बुद्धिकी सत्ता थी ही नहीं, जीवने ही उनको सत्ता दी थी—

'ययेदं धार्यते जगत्' (गीता ७। ५), **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'** (गीता १५। ७)। इसलिये गीतामें **'मय्यासक्तमनाः'** (७। १) **'मन्मना भव'** (९। ३४, १८। ६५), **'मय्यावेश्य मनो ये माम्'** (१२। २), **'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय'** (१२। ८), **'मच्चित्तः सततं भव'** (१८। ५७) आदि पदोंमें जो मन लगानेकी बात आयी है, वह वास्तवमें स्वयंको भगवान्में लगानेका ही उपाय है। भगवान्में मन-बुद्धि लगानेसे मन-बुद्धि तो नहीं लगते, पर स्वयं लग जाता है—**'निवसिष्यसि मय्येव'**। कारण कि जीवका स्वभाव है कि वह वहीं लगता है, जहाँ उसके मन-बुद्धि लगते हैं। जैसे सुई जहाँ जाती है, धागा वहीं जाता है, ऐसे ही मन-बुद्धि जहाँ जाते हैं, स्वयं वहीं जाता है। संसारको सत्ता और महत्ता देकर उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे मन-बुद्धि संसारमें लग गये और संसारमें मन-बुद्धि लगनेसे जीव स्वयं संसारमें लग गया, इसलिये जीवको संसारसे हटानेके लिये भगवान् मन-बुद्धिको अपनेमें लगानेकी आज्ञा देते हैं। जैसे सुनार सोनेको शुद्ध करनेके लिये उसको अग्निमें तपाता है तो सोनेमें मिला हुआ विजातीय पदार्थ (खोट) अलग हो जाता है और शुद्ध सोना रह जाता है, ऐसे ही भगवान्में लगानेसे मन-बुद्धि अलग हो जाते हैं और स्वयं भगवान्में मिल जाता है अर्थात् केवल भगवान् रह जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते। मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(११। १४। २७)

विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें फँस जाता है और मेरा स्मरण करनेसे मन मेरेमें विलीन हो जाता है अर्थात् मनकी सत्ता रहती ही नहीं।'

तात्पर्य है कि भगवान्में लगानेसे मन-बुद्धि भगवान्में लगते नहीं, प्रत्युत लीन हो जाते हैं; क्योंकि मूलमें अपरा प्रकृति भगवान्का ही स्वभाव है। भगवानमें लीन होनेपर मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं—**'वासुदेवः सर्वम्'**। दूसरे शब्दोंमें, मन-बुद्धि संसारसे तो हट गये, पर भगवान्को पकड़ सके नहीं, इसलिये उनकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं, केवल भगवान् रह जाते हैं।

ज्ञानमें स्वरूप मुख्य है और भक्तिमें भगवान् मुख्य हैं। इसलिये ज्ञानी स्वरूपमें स्थित होता है—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४। २४) और भक्त भगवान्में स्थित होता है—**'निवसिष्यसि मय्येव'**। स्वरूपमें स्थित होनेपर अखण्डरसका अनुभव होता है और भगवान्में स्थित होनेपर प्रतिक्षण वर्धमान अनन्तरसका अनुभव होता है। भगवान्में स्थित होनेपर फिर भक्त सब जगह भगवान्को ही देखता है (गीता—छठे अध्यायका तीसवाँ श्लोक); क्योंकि उसका पहलेसे ही यह भाव है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं।

इस श्लोकमें यह क्रम बताया गया है कि भगवान्में पहले साधकका मन लगता है, फिर बुद्धि लगती है, फिर स्वयं लगता है। स्वयं लगनेसे अहम् मिट जाता है।

प्रेममें मन लगता है और श्रद्धामें बुद्धि लगती है। भगवान्में मन-बुद्धि लगानेका तात्पर्य है—भगवान्में प्रेम और श्रद्धा होना अर्थात् संसारकी प्रियता और महत्ता न रहकर केवल भगवान्में ही प्रियता और महत्ता हो जाना।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥ ९॥

अथ	= अगर (तू)		करनेमें	**अभ्यासयोगेन**	= अभ्यासयोगके द्वारा (तू)
चित्तम्	= मनको	**न, शक्नोषि**	= अपनेको समर्थ नहीं मानता,	**माम्**	= मेरी
मयि	= मुझमें				
स्थिरम्	= अचलभावसे	**ततः**	= तो	**आप्तुम्**	= प्राप्तिकी
समाधातुम्	= स्थिर (अर्पण)	**धनञ्जय**	= हे धनंजय!	**इच्छ**	= इच्छा कर।

व्याख्या—**'अथ चित्तं समाधातुं ...... मामिच्छाप्तुं धनंजय'**—यहाँ **'चित्तम्'** पदका अर्थ 'मन' है। परन्तु इस श्लोकका पीछेके श्लोकमें वर्णित साधनसे सम्बन्ध है, इसलिये **'चित्तम्'** पदसे यहाँ मन और बुद्धि दोनों ही लेना

युक्तिसंगत है।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि अगर तू मन-बुद्धिको मेरेमें अचलभावसे स्थापित करनेमें अर्थात् मेरे अर्पण करनेमें अपनेको असमर्थ मानता है, तो अभ्यासयोगके द्वारा मेरेको प्राप्त करनेकी इच्छा कर।

'अभ्यास' और 'अभ्यासयोग' पृथक्-पृथक् हैं। किसी लक्ष्यपर चित्तको बार-बार लगानेका नाम 'अभ्यास' है और समताका नाम 'योग' है। समता रखते हुए अभ्यास करना ही 'अभ्यासयोग' कहलाता है। केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे किया गया भजन, नाम-जप आदि 'अभ्यासयोग' है।

अभ्यासके साथ योगका संयोग न होनेसे साधकका उद्देश्य संसार ही रहेगा। संसारका उद्देश्य होनेपर स्त्री-पुत्र, धन-सम्पत्ति, मान-बड़ाई, नीरोगता, अनुकूलता आदिकी अनेक कामनाएँ उत्पन्न होंगी। कामनावाले पुरुषकी क्रियाओंके उद्देश्य भी (कभी पुत्र, कभी धन, कभी मान-बड़ाई आदि) भिन्न-भिन्न रहेंगे (गीता—दूसरे अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक)। इसलिये ऐसे पुरुषकी क्रियामें योग नहीं होगा। योग तभी होगा, जब क्रियामात्रका उद्देश्य (ध्येय) केवल परमात्मा ही हो।

साधक जब भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर बार-बार नाम-जप आदि करनेकी चेष्टा करता है, तब उसके मनमें दूसरे अनेक संकल्प भी पैदा होते रहते हैं, अत: साधकको 'मेरा ध्येय भगवत्प्राप्ति ही है'—इस प्रकारकी दृढ़ धारणा करके अन्य सब संकल्पोंसे उपराम हो जाना चाहिये।

'मामिच्छाप्तुम्' पदोंसे भगवान् 'अभ्यासयोग' को अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताते हैं।

पीछेके श्लोकमें भगवान्ने अपनेमें मन-बुद्धि अर्पण करनेके लिये कहा। अब इस श्लोकमें अभ्यासयोगके लिये कहते हैं। इससे यह धारणा हो सकती है कि अभ्यासयोग भगवान्‌में मन-बुद्धि अर्पण करनेका साधन है; अत: पहले अभ्यासके द्वारा मन-बुद्धि भगवान्‌के अर्पण होंगे, फिर भगवान्‌की प्राप्ति होगी। परन्तु मन-बुद्धिको अर्पण करनेसे ही भगवत्प्राप्ति होती हो, ऐसा नियम नहीं है। भगवान्‌के कथनका तात्पर्य यह है कि यदि उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही हो अर्थात् उद्देश्यके साथ साधककी पूर्ण एकता हो तो केवल 'अभ्यास'से ही उसे भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

जब साधक भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे बार-बार नाम-जप, भजन-कीर्तन, श्रवण आदिका अभ्यास करता है, तब उसका अन्त:करण शुद्ध होने लगता है और भगवत्प्राप्तिकी इच्छा जाग्रत् हो जाती है। सांसारिक सिद्धि-असिद्धिमें सम होनेपर भगवत्प्राप्तिकी इच्छा तीव्र हो जाती है। भगवत्प्राप्तिकी तीव्र इच्छा होनेपर भगवान्‌से मिलनेके लिये व्याकुलता पैदा हो जाती है। यह व्याकुलता उसकी अवशिष्ट सांसारिक आसक्ति एवं अनन्त जन्मोंके पापोंको जला डालती है। सांसारिक आसक्ति तथा पापोंका नाश होनेपर उसका एकमात्र भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाता है और वह भगवान्‌के वियोगको सहन नहीं कर पाता। जब भक्त भगवान्‌के बिना नहीं रह सकता, तब भगवान् भी उस भक्तके बिना नहीं रह सकते अर्थात् भगवान् भी उसके वियोगको नहीं सह सकते और उस भक्तको मिल जाते हैं।

साधकको भगवत्प्राप्तिमें देरी होनेका कारण यही है कि वह भगवान्‌के वियोगको सहन कर रहा है। यदि उसको भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाय, तो भगवान्‌के मिलनेमें देरी नहीं होगी। भगवान्‌की देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिसे दूरी है ही नहीं। जहाँ साधक है, वहाँ भगवान् हैं ही। भक्तमें उत्कण्ठाकी कमीके कारण ही भगवत्प्राप्तिमें देरी होती है। सांसारिक सुखभोगकी इच्छाके कारण ही ऐसी आशा कर ली जाती है कि भगवत्प्राप्ति भविष्यमें होगी। जब भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुलता और तीव्र उत्कण्ठा होगी, तब सुख-भोगकी इच्छाका स्वत: नाश हो जायगा और वर्तमानमें ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

साधकका यदि आरम्भसे ही यह दृढ़ निश्चय हो कि मेरेको तो केवल भगवत्प्राप्ति ही करनी है (चाहे लौकिक दृष्टिसे कुछ भी बने या बिगड़े) तो कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग—किसी भी मार्गसे उसे बहुत जल्दी भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

परिशिष्ट भाव—छठे अध्यायके छब्बीसवें श्लोकमें तो केवल **'अभ्यास'** की बात आयी थी; परन्तु यहाँ **'अभ्यासयोग'** की बात आयी है, जिससे कल्याण हो जाता है। केवल अभ्यास हो, योग न हो तो एक स्थिति (अवस्था) बनेगी, पर कल्याण नहीं होगा।

मनका निरोध करना अथवा मनको बार-बार भगवान्‌में लगाना अभ्यास है। अभ्यासयोगमें मनका निरोध नहीं है, प्रत्युत मनसे सम्बन्ध-विच्छेद है—**'समत्वं योग उच्यते'** (गीता २।४८)।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥ १०॥

अभ्यासे	= (अगर तू) अभ्यास-(योग-) में	**असि**	= है, (तो)	**कर्माणि**	= कर्मोंको
अपि	= भी (अपनेको)	**मत्कर्मपरमः**	= मेरे लिये कर्म करनेके परायण	**कुर्वन्**	= करता हुआ
असमर्थः	= असमर्थ (पाता)	**भव**	= हो जा।	**अपि**	= भी (तू)
		मदर्थम्	= मेरे लिये	**सिद्धिम्**	= सिद्धिको
				अवाप्स्यसि	= प्राप्त हो जायगा।

व्याख्या—‘**अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव**’— यहाँ ‘**अभ्यासे**’ पदका अभिप्राय पीछेके (नवें) श्लोकमें वर्णित ‘अभ्यासयोग’ से है। गीताकी यह शैली है कि पहले कहे हुए विषयका आगे संक्षेपमें वर्णन किया जाता है। आठवें श्लोकमें भगवान्‌ने अपनेमें मन-बुद्धि लगानेके साधनको नवें श्लोकमें पुनः ‘**चित्तं समाधातुम्**’ पदोंसे कहा अर्थात् ‘**चित्तम्**’ पदके अन्तर्गत मन-बुद्धि दोनोंका समावेश कर लिया। इसी प्रकार नवें श्लोकमें आये हुए अभ्यासयोगके लिये यहाँ (दसवें श्लोकमें) ‘**अभ्यासे**’ पद आया है।

भगवान् कहते हैं कि अगर तू पूर्वश्लोकमें वर्णित अभ्यासयोगमें भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्म करनेके परायण हो जा। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कर्मों-(वर्णाश्रमधर्मानुसार शरीरनिर्वाह और आजीविका-सम्बन्धी लौकिक एवं भजन, ध्यान, नाम-जप आदि पारमार्थिक कर्मों-) का उद्‌देश्य सांसारिक भोग और संग्रह न होकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही हो। जो कर्म भगवत्प्राप्तिके लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं, उनको ‘मत्कर्म’ कहते हैं। जो साधक इस प्रकार कर्मोंके परायण हैं, वे ‘मत्कर्मपरम’ कहे जाते हैं। साधकका अपना सम्बन्ध भी भगवान्‌से हो और कर्मोंका सम्बन्ध भी भगवान्‌के साथ रहे, तभी मत्कर्मपरायणता सिद्ध होगी।

साधकका ध्येय जब संसार (भोग और संग्रह) नहीं रहेगा, तब निषिद्ध क्रियाएँ सर्वथा छूट जायँगी; क्योंकि निषिद्ध क्रियाओंके अनुष्ठानमें संसारकी ‘कामना’ ही हेतु है (गीता—तीसरे अध्यायका सैंतीसवाँ श्लोक)। अतः भगवत्प्राप्तिका ही उद्‌देश्य होनेसे साधककी सम्पूर्ण क्रियाएँ शास्त्रविहित और भगवदर्थ ही होंगी।

‘**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि**’— भगवान्‌ने जिस साधनकी बात इसी श्लोकके पूर्वार्धमें ‘**मत्कर्मपरमो भव**’ पदोंसे कही है, वही बात इन पदोंमें पुनः कही गयी है। भाव यह है कि केवल परमात्माका उद्‌देश्य होनेसे उस साधककी और जगह स्थिति हो ही कैसे सकती है?

जिस प्रकार भगवान्‌ने आठवें श्लोकमें मन-बुद्धि अपनेमें अर्पण करनेके साधनको तथा नवें श्लोकमें अभ्यासयोगके साधनको अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बताया, उसी प्रकार यहाँ भगवान् ‘**मत्कर्मपरमो भव**’ (केवल मेरे लिये कर्म करनेके परायण हो)—इस साधनको भी अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बता रहे हैं।

जैसे धन-प्राप्तिके लिये व्यापार आदि कर्म करनेवाले मनुष्यको ज्यों-ज्यों धन प्राप्त होता है, त्यों-त्यों उसके मनमें धनका लोभ और कर्म करनेका उत्साह बढ़ता है, ऐसे ही साधक जब भगवान्‌के लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है, तब उसके मनमें भी भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा और साधन करनेका उत्साह बढ़ता रहता है। उत्कण्ठा तीव्र होनेपर जब उसको भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है, तब सर्वत्र परिपूर्ण भगवान् उससे छिपे नहीं रहते। भगवान् अपनी कृपासे उसको अपनी प्राप्ति करा ही देते हैं। यदि साधकका उद्‌देश्य भगवत्प्राप्ति ही है और सम्पूर्ण क्रियाएँ वह भगवान्‌के लिये ही करता है, तो इसका अभिप्राय यह है कि उसने अपनी सारी समझ, सामग्री, सामर्थ्य और समय भगवत्प्राप्तिके लिये ही लगा दिया। इसके सिवाय वह और कर भी क्या सकता है? भगवान् उस साधकसे इससे अधिक अपेक्षा भी नहीं रखते। अतः उसे अपनी प्राप्ति करा देते हैं। इसका कारण यह है कि भगवान् किसी साधन-विशेषसे खरीदे नहीं जा सकते। भगवान्‌के महत्त्वके सामने सृष्टिमात्रका महत्त्व भी कुछ नहीं है, फिर एक व्यक्तिके द्वारा अर्पित सीमित सामग्री और साधनसे उनका मूल्य चुकाया ही कैसे जा सकता है! अतः अपनी प्राप्तिके लिये भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी योग्यता, सामर्थ्य आदिको मेरी प्राप्तिमें लगा दे अर्थात् अपने पास बचाकर कुछ न रखे और इन योग्यता, सामर्थ्य आदिको अपना भी न समझे।

परिशिष्ट भाव—अभ्यासकी अपेक्षा क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करना सुगम है। कारण कि अभ्यास तो नया काम है, जो करना पड़ता है, पर कर्म स्वतः होते हैं; क्योंकि कर्म करनेका स्वभाव पड़ा हुआ है। अपने लिये कर्म करनेसे मनुष्य बँधता है—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**'। इसलिये कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करनेसे मनुष्य सुगमतापूर्वक भगवान्‌को प्राप्त हो जाता है (गीता—नवें अध्यायका सत्ताईसवाँ-अट्ठाईसवाँ श्लोक)।

'**मदर्थमपि**' पदका तात्पर्य है कि आरम्भसे भगवान्‌के लिये ही कर्म किये जायँ।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥ ११॥

अथ	= अगर		साधन-) को	**यतात्मवान्**	= मन-इन्द्रियोंको वशमें करके
मद्योगम्	= मेरे योग-(समता-) के	**अपि**	= भी	**सर्वकर्मफल-त्यागम्**	= सम्पूर्ण कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग
आश्रितः	= आश्रित हुआ (तू)	**कर्तुम्**	= करनेमें (अपनेको)	**कुरु**	= कर।
एतत्	= इस-(पूर्वश्लोकमें कहे गये	**अशक्तः**	= असमर्थ (पाता)		
		असि	= है,		
		ततः	= तो		

व्याख्या—'**अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः**'—पूर्वश्लोकमें भगवान्‌ने अपने लिये ही सम्पूर्ण कर्म करनेसे अपनी प्राप्ति बतायी और अब इस श्लोकमें वे सम्पूर्ण कर्मोंके फलत्यागरूप साधनकी बात बता रहे हैं। वहाँ भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करनेमें भक्तिकी प्रधानता होनेसे उसे 'भक्तियोग' कहेंगे और यहाँ सर्वकर्मफलत्यागमें केवल फलत्यागकी मुख्यता होनेसे इसे 'कर्मयोग' कहेंगे। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिके ये दोनों ही स्वतन्त्र (पृथक्-पृथक्) साधन हैं।

इस श्लोकमें '**मद्योगमाश्रितः**' पदका सम्बन्ध '**अथैतदप्यशक्तोऽसि**' के साथ मानना ही ठीक मालूम देता है; क्योंकि यदि इसका सम्बन्ध '**सर्वकर्मफलत्यागं कुरु**' के साथ माना जाय, तो भगवान्‌के आश्रयकी मुख्यता हो जानेसे यहाँ 'भक्तियोग' ही हो जायगा। ऐसी दशामें दसवें श्लोकमें कहे हुए भक्तियोगके साधनसे इसकी भिन्नता नहीं रहेगी, जबकि भगवान् दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें क्रमशः 'भक्तियोग' और 'कर्मयोग'—दो भिन्न-भिन्न साधन बताना चाहते हैं।

दूसरी बात, भगवान्‌ने इस श्लोकमें '**यतात्मवान्**' (मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके सहित शरीरपर विजय प्राप्त करनेवाला) पद भी दिया है। आत्मसंयमकी विशेष आवश्यकता कर्मयोगमें ही है; क्योंकि आत्मसंयमके बिना सर्वकर्मफलत्याग होना असम्भव है। इसलिये भी '**मद्योगमाश्रितः**' पदका सम्बन्ध '**अथैतदप्यशक्तोऽसि**' के साथ मानना चाहिये, न कि सर्वकर्मफलत्याग करनेकी आज्ञाके साथ।

जिसका भगवान्‌पर तो उतना विश्वास नहीं है, पर भगवान्‌के विधानमें अर्थात् देश-समाजकी सेवा आदि करनेमें अधिक विश्वास है, उसके लिये भगवान् इस श्लोकमें सर्वकर्मफलत्याग-रूप साधन बताते हैं। तात्पर्य है कि अगर वह सम्पूर्ण कर्मोंको मेरे अर्पण न कर सके, तो जिस फलको प्राप्त करना उसके हाथकी बात नहीं है, उस फलकी इच्छाका त्याग कर दे—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २। ४७)। फलकी इच्छाका त्याग करके कर्तव्य कर्म करनेसे उसका संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा।

'**सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्**'—कर्मयोगके साधनमें स्वाभाविक ही कर्मोंका विस्तार होता है; क्योंकि योगकी प्राप्तिमें अनासक्त भावसे कर्म करना ही हेतु कहा गया है (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक)। इससे कर्मोंमें फलासक्ति होनेके कारण बँधनेका भय रहता है। अतः '**यतात्मवान्**' पदसे भगवान् कर्मफलत्यागके साधनमें मन-इन्द्रियों आदिके संयमकी आवश्यकता बताते हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि मन-इन्द्रियोंका संयम होनेपर कर्मफलत्यागमें भी सुगमता होती है। अगर साधक मन-बुद्धि-इन्द्रियों आदिका संयम नहीं करता, तो स्वाभाविक ही उसके मनद्वारा विषयोंका चिन्तन होगा और उसकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जायगी। इससे उसका

पतन होनेकी बहुत सम्भावना रहेगी (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)। त्यागका उद्देश्य होनेसे साधक मन-इन्द्रियोंका संयम सुगमतासे कर सकता है।

यहाँ '**सर्वकर्म**' पद यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमके अनुसार जीविका तथा शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंका वाचक है। सर्वकर्मफलत्यागका अभिप्राय स्वरूपसे कर्मफलका त्याग न होकर कर्मफलमें ममता, आसक्ति, कामना, वासना आदिका त्याग ही है।

कर्मफलत्यागके साधनमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करनेकी बात नहीं कही गयी; क्योंकि कर्म करना तो जरूरी है (गीता—छठे अध्यायका तीसरा श्लोक)। जैसा कि पहले कह चुके हैं, आवश्यकता केवल कर्मों और उनके फलोंमें ममता, आसक्ति, कामना आदिके त्यागकी ही है।

कर्मयोगके साधकको अकर्मण्य नहीं होना चाहिये; क्योंकि कर्मफल-त्यागकी बात सुनकर प्राय: साधक सोचता है कि जब कुछ लेना ही नहीं है, तो फिर कर्मोंको करनेकी क्या जरूरत! इसलिये भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके सैंतालीसवें श्लोकमें कर्मयोगकी बात कहते हुए '**मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि**' 'तेरी कर्म न करनेमें आसक्ति न हो'—यह कहकर साधकके लिये अकर्मण्यता-(कर्मके त्याग-) का निषेध किया है।

अठारहवें अध्यायके नवें श्लोकमें भगवान्‌ने सात्त्विक त्यागके लक्षण बताते हुए कर्मोंमें फलासक्तिके त्यागको ही 'सात्त्विक त्याग' कहा है, न कि स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको।

फलासक्तिका त्याग करके क्रियाओंको करते रहनेसे क्रियाओंको करनेका वेग शान्त हो जाता है और पुरानी आसक्ति मिट जाती है। फलकी इच्छा न रहनेसे कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और नयी आसक्ति पैदा नहीं होती। फिर साधक कृतकृत्य हो जाता है। पदार्थोंमें राग, आसक्ति, कामना, ममता, फलेच्छा आदि ही क्रियाओंका वेग पैदा करनेवाली है। इनके रहते हुए हठपूर्वक क्रियाओंका त्याग करनेपर भी क्रियाओंका वेग शान्त नहीं होता। राग-द्वेष रहनेके कारण साधककी प्रकृति पुन: उसे कर्मोंमें लगा देती है। अत: राग-द्वेषादिका त्याग करके निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य-कर्म करनेसे ही क्रियाओंका वेग शान्त होता है।

जिन साधकोंकी सगुण-साकार भगवान्‌में स्वाभाविक श्रद्धा और भक्ति नहीं है, प्रत्युत व्यावहारिक और लोकहितके कार्य करनेमें ही अधिक श्रद्धा और रुचि है, ऐसे साधकोंके लिये यह (सर्वकर्मफलत्यागरूप) साधन बहुत उपयोगी है।

भगवान्‌ने जहाँ भी कर्मफलत्यागकी बात कही है, वहाँ आसक्ति और फलेच्छाके त्यागका अध्याहार कर लेना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌के मतमें आसक्ति और फलेच्छाका पूरी तरह त्याग होनेसे ही कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होता है (गीता—अठारहवें अध्यायका छठा श्लोक)।

सम्पूर्ण कर्मोंके फल-(फलेच्छा-) का त्याग भगवत्-प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है। कर्मफलत्यागसे विषयासक्तिका नाश होकर शान्ति-(सात्त्विक सुख-) की प्राप्ति हो जाती है। उस शान्तिका उपभोग न करनेसे (उसमें सुख-बुद्धि करके उसमें न अटकनेसे) वह शान्ति परमतत्त्वका बोध कराकर उससे अभिन्न करा देती है।

ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें भगवान्‌ने साधक भक्तके पाँच लक्षणोंमें एक लक्षण '**संगवर्जितः**' (आसक्तिसे रहित) बताया था। इस श्लोकमें भगवान् सम्पूर्ण कर्मोंके फलत्यागकी बात कहते हैं, जो संसारकी आसक्तिके सर्वथा त्यागसे ही सम्भव है। इस-(सर्वकर्मफलत्याग-)का फल भगवान्‌ने इसी अध्यायके बारहवें श्लोकमें तत्काल परमशान्तिकी प्राप्ति होना बताया है। अत: यह समझना चाहिये कि केवल आसक्तिका सर्वथा त्याग करनेसे भी परमशान्ति अथवा भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है।

परिशिष्ट भाव—अगर साधक सर्वथा भगवान्‌के लिये कर्म न कर सके तो उसको फलेच्छाका त्याग करके कर्म करना चाहिये; क्योंकि फलेच्छा ही बाँधनेवाली है—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५। १२)।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक एक साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा, दूसरे साधनमें असमर्थ होनेपर तीसरा और तीसरे साधनमें असमर्थ होनेपर चौथा साधन बताया। इससे यह शंका हो सकती है कि क्या अन्तमें बताया गया 'सर्वकर्मफलत्याग' साधन सबसे निम्न श्रेणीका है? क्योंकि उसको सबसे अन्तमें कहा गया है तथा भगवान्‌ने उस-(सर्वकर्मफलत्याग-)का कोई फल भी नहीं बताया। इस शंकाका निवारण करते हुए भगवान् सर्वकर्मफलत्यागरूप साधनकी श्रेष्ठता तथा उसका फल बताते हैं।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥

अभ्यासात्	= अभ्याससे
ज्ञानम्	= शास्त्रज्ञान
श्रेयः	= श्रेष्ठ है,
ज्ञानात्	= शास्त्रज्ञानसे
ध्यानम्	= ध्यान
विशिष्यते	= श्रेष्ठ है (और)
ध्यानात्	= ध्यानसे (भी)
कर्मफल-त्यागः	= सब कर्मोंके फलकी इच्छाका त्याग (श्रेष्ठ है);
हि	= क्योंकि
त्यागात्	= त्यागसे
अनन्तरम्	= तत्काल ही
शान्तिः	= परमशान्ति प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—[भगवान्‌ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक एक-एक साधनमें असमर्थ होनेपर क्रमशः समर्पणयोग, अभ्यासयोग, भगवदर्थ कर्म और कर्मफलत्याग—ये चार साधन बताये। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि क्रमशः पहले साधनकी अपेक्षा आगेका साधन नीचे दर्जेका है, और अन्तमें कहा गया कर्मफलत्यागका साधन सबसे नीचे दर्जेका है। इस बातकी पुष्टि इससे भी होती है कि पहलेके तीन साधनोंमें भगवत्प्राप्तिरूप फलकी बात (**'निवसिष्यसि मय्येव'**, **'मामिच्छाप्तुम्'** तथा **'सिद्धिमवाप्स्यसि'**—इन पदोंद्वारा) साथ-साथ कही गयी; परन्तु ग्यारहवें श्लोकमें जहाँ कर्मफलत्याग करनेकी आज्ञा दी गयी है, वहाँ उसका फल भगवत्प्राप्ति नहीं बताया गया।

उपर्युक्त धारणाओंको दूर करनेके लिये यह बारहवाँ श्लोक कहा गया है। इसमें भगवान्‌ने कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ और तत्काल परमशान्ति देनेवाला बताया है, जिससे कि इस चौथे साधनको कोई निम्न श्रेणीका न समझ ले। कारण कि इस साधनमें आसक्ति, ममता और फलेच्छाके त्यागकी ही प्रधानता होनेसे जिस तत्त्वकी प्राप्ति समर्पणयोग, अभ्यासयोग एवं भगवदर्थ कर्म करनेसे होती है, ठीक उसी तत्त्वकी प्राप्ति कर्मफलत्यागसे भी होती है।

वास्तवमें उपर्युक्त चारों साधन स्वतन्त्रतासे भगवत्प्राप्ति करानेवाले हैं। साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण ही भगवान्‌ने आठवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक अलग-अलग साधन कहे हैं।

जहाँतक कर्मफलत्यागके फल-(भगवत्प्राप्ति-) को अलगसे बारहवें श्लोकमें कहनेका प्रश्न है, उसमें यही विचार करना चाहिये कि समर्पणयोग, अभ्यासयोग एवं भगवदर्थ कर्म करनेसे भगवत्प्राप्ति होती है, यह तो प्रायः प्रचलित ही है; किंतु कर्मफलत्यागसे भी भगवत्प्राप्ति होती है, यह बात प्रचलित नहीं है। इसीलिये प्रचलित साधनोंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता बतानेके लिये बारहवाँ श्लोक कहा गया है और उसीमें कर्मफलत्यागका फल कहना उचित प्रतीत होता है।]

'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्'—महर्षि पतंजलि कहते हैं—**'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।'** (योगदर्शन १। १३) अर्थात् किसी एक विषयमें स्थिति (स्थिरता) प्राप्त करनेके लिये बार-बार प्रयत्न करनेका नाम 'अभ्यास' है।

यहाँ (इस श्लोकमें) 'अभ्यास' शब्द केवल अभ्यास-रूप क्रियाका वाचक है, अभ्यासयोगका वाचक नहीं; क्योंकि इस (प्राणायाम, मनोनिग्रह आदि) अभ्यासमें शास्त्रज्ञान और ध्यान नहीं है तथा कर्मफलकी इच्छाका त्याग भी नहीं है। जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही योग होता है, जबकि उपर्युक्त अभ्यासमें जडता-(शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि-) का आश्रय रहता है।

यहाँ 'ज्ञान' शब्दका अर्थ शास्त्रज्ञान है, तत्त्वज्ञान नहीं; क्योंकि तत्त्वज्ञान तो सभी साधनोंका फल है। अतः यहाँ जिस ज्ञानकी अभ्याससे तुलना की जा रही है, उस ज्ञानमें न तो अभ्यास है, न ध्यान है और न कर्मफलत्याग ही है। जिस अभ्यासमें न ज्ञान है, न ध्यान है और न कर्मफलत्याग ही है—ऐसे अभ्यासकी अपेक्षा उपर्युक्त ज्ञान ही श्रेष्ठ है।

शास्त्रोंके अध्ययन और सत्संगके द्वारा आध्यात्मिक जानकारीको तो प्राप्त कर ले, पर न तो उसके अनुसार वास्तविक तत्त्वका अनुभव करे और न ध्यान, अभ्यास और कर्मफलत्यागरूप किसी साधनका अनुष्ठान ही करे—ऐसी (केवल शास्त्रोंकी) जानकारीके लिये यहाँ **'ज्ञानम्'** पद आया है। इस ज्ञानको उपर्युक्त अभ्यासकी अपेक्षा श्रेष्ठ कहनेका तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक ज्ञानसे रहित अभ्यास भगवत्प्राप्तिमें उतना सहायक नहीं होता, जितना अभ्याससे रहित ज्ञान सहायक होता है। कारण कि ज्ञानसे भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा जाग्रत् हो सकती है, जिससे संसारसे ऊँचा उठना जितना सुगम हो सकता है, उतना अभ्यासमात्रसे नहीं।

'ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते'—यहाँ 'ध्यान' शब्द केवल मनकी एकाग्रतारूप क्रियाका वाचक है, ध्यानयोगका वाचक नहीं। इस ध्यानमें शास्त्रज्ञान और कर्मफलत्याग नहीं है। ऐसा ध्यान उस ज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, जिस ज्ञानमें अभ्यास, ध्यान और कर्मफलत्याग नहीं है। कारण कि ध्यानसे मनका नियन्त्रण होता है, जब कि केवल शास्त्रज्ञानसे मनका नियन्त्रण नहीं होता। इसलिये मन-नियन्त्रणके कारण ध्यानसे जो शक्ति संचित होती है, वह शास्त्रज्ञानसे नहीं होती। यदि साधक उस शक्तिका सदुपयोग करके परमात्माकी तरफ बढ़ना चाहे, तो जितनी सुगमता उसको होगी, उतनी शास्त्रज्ञानवालेको नहीं। इसके साथ-साथ ध्यान करनेवाले साधकको (अगर वह शास्त्रका अध्ययन करे, तो) मनकी एकाग्रताके कारण वास्तविक ज्ञानकी प्राप्ति बहुत सुगमतासे हो सकती है, जबकि केवल शास्त्राध्यायी साधकको (चाहनेपर भी) मनकी चंचलताके कारण ध्यान लगानेमें कठिनता होती है। [आजकल भी देखा जाय तो शास्त्रका अध्ययन करनेवाले आदमी जितने मिलते हैं, उतने मनकी एकाग्रताके लिये उद्योग करनेवाले नहीं मिलते।]

'ध्यानात्कर्मफलत्यागः'—ज्ञान और कर्मफलत्यागसे रहित 'ध्यान'की अपेक्षा ज्ञान और ध्यानसे रहित 'कर्मफलत्याग' श्रेष्ठ है। यहाँ कर्मफलत्यागका अर्थ कर्मों तथा कर्मफलोंका स्वरूपसे त्याग नहीं है, प्रत्युत कर्मों और उनके फलोंमें ममता, आसक्ति और कामनाका त्याग ही है।

उत्पत्ति-विनाशशील सब-की-सब वस्तुएँ कर्मफल हैं। उनकी आसक्तिका त्याग करना ही सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंका त्याग करना है।

कर्मोंमें आसक्ति और फलेच्छा ही संसारमें बन्धनका कारण है। आसक्ति और फलेच्छा न रहनेसे कर्मफलत्यागी पुरुष सुगमतापूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, योग्यता, सामर्थ्य, पदार्थ आदि जो कुछ मनुष्यके पास है, वह सब-का-सब संसारसे ही मिला हुआ है, उसका व्यक्तिगत नहीं है। इसलिये कर्मफलत्यागी अर्थात् कर्मयोगी मिली हुई (शरीरादि) सब सामग्रीको अपनी और अपने लिये न मानकर उसको निष्कामभावपूर्वक संसारकी ही सेवामें लगा देता है। इस प्रकार मिली हुई सामग्री-(जडता-) का प्रवाह संसार-(जडता-) की ही तरफ हो जानेसे उसका जडतासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और उसको परमात्मासे अपने स्वाभाविक और नित्यसिद्ध सम्बन्धका अनुभव हो जाता है। इसलिये कर्मयोगीके लिये अलगसे ध्यान लगानेकी जरूरत नहीं है। अगर वह ध्यान लगाना भी चाहे, तो कोई सांसारिक कामना न होनेके कारण वह सुगमतापूर्वक ध्यान लगा सकता है, जब कि सकामभावके कारण सामान्य साधकको ध्यान लगानेमें कठिनाई होती है।

गीताके छठे अध्यायमें (ध्यानयोगके प्रकरणमें) भगवान्ने बताया है कि ध्यानका अभ्यास करते-करते अन्तमें जब साधकका चित्त एकमात्र परमात्मामें अच्छी तरहसे स्थित हो जाता है, तब वह सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित हो जाता है और चित्तके उपराम होनेपर वह स्वयंसे परमात्मतत्त्वमें स्थित हो जाता है (छठे अध्यायके अठारहवेंसे बीसवें श्लोकतक)। परन्तु कर्मयोगी सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग करके तत्काल स्वयंसे परमात्मतत्त्वमें स्थित हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका पचपनवाँ श्लोक)। कारण यह है कि ध्यानमें परमात्मामें चित्त लगाया जाता है, इसलिये उसमें चित्त-(जडता-) का आश्रय रहनेके कारण चित्त-(जडता-) के साथ बहुत दूरतक सम्बन्ध बना रहता है। परन्तु कर्मयोगमें ममता और कामनाका त्याग किया जाता है, इसलिये उसमें ममता और कामना- (जडता-) का त्याग करनेके साथ ही चित्त-(जडता-) का भी स्वतः त्याग हो जाता है। इसलिये परिणाममें समानरूपसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर भी ध्यानका अभ्यास करनेवाले साधकको ध्येयमें चित्त लगानेमें कठिनाई होती है तथा उसे परमात्मतत्त्वका अनुभव भी देरीसे होता है, जब कि कर्मयोगीको परमात्मतत्त्वका अनुभव सुगमतापूर्वक तथा शीघ्रतासे होता है। इससे सिद्ध होता है कि ध्यानकी अपेक्षा कर्मयोगका साधन श्रेष्ठ है।

अपना कुछ नहीं, अपने लिये कुछ नहीं चाहिये और अपने लिये कुछ नहीं करना है—यही कर्मयोगका मूल महामन्त्र है, जिसके कारण यह सब साधनोंसे विलक्षण हो जाता है—**'कर्मयोगो विशिष्यते'** (गीता ५। २)।

'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'—यहाँ **'त्यागात्'** पद 'कर्मफलत्याग'के लिये ही आया है। त्यागके स्वरूपको विशेषरूपसे समझनेकी आवश्यकता है। त्याग न तो उसका हो सकता है, जो अपना स्वरूप है और न उसीका हो सकता है, जिसके साथ अपना सम्बन्ध नहीं है। जैसे, अपना स्वरूप होनेके कारण प्रकाश और उष्णतासे सूर्यका वियोग नहीं हो सकता, और जिससे वियोग नहीं हो सकता, उसका त्याग

करना असम्भव है। इसके विपरीत अपना स्वरूप न होनेके कारण अन्धकार और शीतलतासे सूर्यका वियोग भी कहना नहीं बनता; क्योंकि अपना स्वरूप न होनेके कारण उनका वियोग अथवा त्याग नित्य और स्वत:सिद्ध है। इसलिये वास्तवमें त्याग उसीका होता है जो अपना नहीं है, पर भूलसे अपना मान लिया गया है।

जीव स्वयं चेतन और अविनाशी है तथा संसार जड और विनाशी है। जीव भूलसे (अपने अंशी परमात्माको भूलकर) विजातीय संसारको अपना मान लेता है। इसलिये संसारसे माने हुए सम्बन्धका ही त्याग करनेकी आवश्यकता है।

त्याग असीम होता है। संसारके सम्बन्धमें तो सीमा होती है, पर संसारके त्याग-(सम्बन्ध-विच्छेद) में सीमा नहीं होती। तात्पर्य है कि जिन वस्तुओंसे हम अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं, उन वस्तुओंकी तो सीमा होती है, पर उन वस्तुओंका त्याग असीम होता है। त्याग करते ही परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति भी असीम होती है। कारण कि परमात्मतत्त्व देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिकी सीमासे रहित (असीम) है। सीमित वस्तुओंके मोहके कारण ही उस असीम परमात्मतत्त्वका अनुभव नहीं होता।

'कर्मफलत्याग' में संसारसे माने हुए सम्बन्धका त्याग हो जाता है। इसलिये यहाँ '**त्यागात्**' पद कर्मों और उनके फलों (संसार)-के साथ भूलसे माने हुए सम्बन्धका त्याग करनेके अर्थमें ही आया है। यही त्यागका वास्तविक स्वरूप है।

त्यागके अन्तर्गत जप, भजन, ध्यान, समाधि आदिके फलका त्याग भी समझना चाहिये। कारण कि जबतक जप, भजन, ध्यान, समाधि अपने लिये की जाती है, तबतक व्यक्तित्व बना रहनेसे बन्धन बना रहता है। अत: अपने लिये किया हुआ ध्यान, समाधि आदि भी बन्धन ही है। इसलिये किसी भी क्रियाके साथ अपने लिये कुछ भी चाह न रखना ही 'त्याग' है। वास्तविक त्यागमें त्याग-वृत्तिसे भी सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है।

यहाँ '**शान्तिः**' पदका तात्पर्य परमशान्तिकी प्राप्ति है। इसीको भगवत्प्राप्ति कहते हैं।

अभ्यास, ज्ञान और ध्यान—तीनों साधनोंसे वस्तुत: कर्मफलत्यागरूप साधन श्रेष्ठ है। जबतक साधकमें फलकी आसक्ति रहती है, तबतक वह (जडताका आश्रय रहनेसे) मुक्त नहीं हो सकता (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। इसलिये फलासक्तिके त्यागकी जरूरत अभ्यास, ज्ञान और ध्यान— तीनों ही साधनोंमें है। जडता अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका सम्बन्ध ही अशान्तिका खास कारण है। कर्मफलत्याग अर्थात् कर्मयोगमें आरम्भसे ही कर्मों और उनके फलोंमें आसक्तिका त्याग किया जाता है (गीता—पाँचवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)। इसलिये जडताका सम्बन्ध न रहनेसे कर्मयोगीको शीघ्र परमशान्तिकी प्राप्ति हो जाती है (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)।

कर्मफलत्याग-सम्बन्धी विशेष बात

'कर्मफलत्याग' कर्मयोगका ही दूसरा नाम है। कारण कि कर्मयोगमें 'कर्मफलत्याग' ही मुख्य है। यह कर्मयोग भगवान् श्रीकृष्णके अवतारसे बहुत पहले ही लुप्तप्राय हो गया था (गीता—चौथे अध्यायका दूसरा श्लोक)। भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त बनाकर कृपापूर्वक इस कर्मयोगको पुन: प्रकट किया (गीता—चौथे अध्यायका तीसरा श्लोक)। भगवान्‌ने इसको प्रकट करके प्रत्येक परिस्थितिमें प्रत्येक मनुष्यको कल्याणका अधिकार प्रदान किया, अन्यथा अध्यात्ममार्गके विषयमें कभी यह सोचा ही नहीं जा सकता कि एकान्तके बिना, कर्मोंको छोड़े बिना, वस्तुओंका त्याग किये बिना, स्वजनोंके त्यागके बिना—प्रत्येक परिस्थितिमें मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है!

कर्मयोगमें फलासक्तिका त्याग ही मुख्य है। स्वस्थता-अस्वस्थता, धनवत्ता-निर्धनता, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा आदि सभी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ कर्मोंके फलरूपमें आती हैं। इनके साथ राग-द्वेष रहनेसे कभी परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती (गीता—दूसरे अध्यायके बयालीसवेंसे चौवालीसवें श्लोकतक)।

उत्पन्न होनेवाली मात्र वस्तुएँ कर्मफल हैं। जो फलरूपमें मिला है, वह सदा रहनेवाला नहीं होता; क्योंकि जब कर्म सदा नहीं रहता, तब उससे उत्पन्न होनेवाला फल सदा कैसे रहेगा? इसलिये उसमें आसक्ति, ममता करना भूल ही है। जो फल अभी नहीं मिला है, उसकी कामना करना भी भूल है। अत: फलासक्तिका त्याग कर्मयोगका बीज है।

कर्मयोगमें क्रियाओंकी प्रधानता प्रतीत होती है और

शरीरादि जड पदार्थोंके बिना क्रियाओंका होना सम्भव नहीं है, इसलिये कर्मों एवं फलोंसे छुटकारा पाना कठिन मालूम देता है। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो मिली हुई कर्म-सामग्री-(शरीरादि जड-पदार्थों-) को अपनी तथा अपने लिये माननेसे ही फलासक्तिका त्याग कठिन मालूम देता है। शरीरादि प्राप्त-सामग्रीमें किसी प्रकारकी आसक्ति न रखकर कर्तव्य-कर्म करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है (गीता—तीसरे अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक)। वास्तवमें क्रियाएँ कभी बन्धनकारक नहीं होतीं। बन्धनका मूल हेतु कामना और फलासक्ति है। कामना और फलासक्तिके मिटनेपर सभी कर्म अकर्म हो जाते हैं (गीता—चौथे अध्यायके उन्नीसवेंसे तेईसवें श्लोकतक)।

भगवान्‌ने कर्मयोगको कर्मसंन्याससे भी श्रेष्ठ बताया है (गीता—पाँचवें अध्यायका दूसरा श्लोक)। भगवान्‌के मतमें स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करनेवाला व्यक्ति संन्यासी नहीं है, प्रत्युत कर्मफलका आश्रय न लेकर कर्तव्य-कर्म करनेवाला कर्मयोगी ही संन्यासी है (गीता—छठे अध्यायका पहला श्लोक)। आसक्तिरहित कर्मयोगी सभी संकल्पोंसे मुक्त होकर सुगमतापूर्वक योगारूढ़ हो जाता है (गीता—छठे अध्यायका चौथा श्लोक)। इसके विपरीत जो कर्मों तथा उनके फलोंको अपना और अपने लिये मानकर सुख-भोगकी इच्छा रखते हैं, वे वास्तवमें पापका ही भोग करते हैं (गीता—तीसरे अध्यायका तेरहवाँ श्लोक)। अत: फलासक्ति ही संसारमें बन्धनका मुख्य कारण है— **'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता—पाँचवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। इसका त्याग ही वास्तवमें त्याग है (गीता—अठारहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

गीता फलासक्तिके त्यागपर जितना जोर देती है, उतना और किसी साधनपर नहीं। दूसरे साधनोंका वर्णन करते समय भी कर्मफलत्यागको उनके साथ रखा गया है। भगवान्‌के मतानुसार त्याग वही है, जिसमें निष्कामभावसे अपने कर्तव्यका पालन हो और फलोंमें किसी प्रकारकी आसक्ति न हो (गीता—अठारहवें अध्यायका छठा श्लोक)। उत्तम-से-उत्तम कर्मोंमें भी आसक्ति न हो और साधारण-से-साधारण कर्मोंमें भी द्वेष न हो; क्योंकि कर्म तो उत्पन्न होकर समाप्त हो जायँगे, पर उनमें होनेवाली आसक्ति (राग) और द्वेष रह जायगा, जो बन्धनका हेतु है। इसके विपरीत अहंभाव तथा राग-द्वेषसे रहित मनुष्यके सामने समस्त प्राणियोंका संहाररूप कर्तव्य-कर्म भी आ जाय, तो भी वह बँध नहीं सकता (गीता—अठारहवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)। इसीलिये भगवान् 'कर्मफल-त्याग' को तप, ज्ञान, कर्म, अभ्यास, ध्यान आदि साधनोंसे श्रेष्ठ बताते हैं। दूसरे साधनोंमें क्रियाएँ तो उत्तम प्रतीत होती हैं, पर विशेष लाभ दिखायी नहीं देता तथा श्रम भी करना पड़ता है। परन्तु फलासक्तिका त्याग कर देनेपर न तो कोई नये कर्म करने पड़ते हैं, न आश्रम, देश आदिका परिवर्तन ही करना पड़ता है, प्रत्युत साधक जहाँ है, जो करता है, जैसी परिस्थितिमें है, उसीमें (फलासक्तिके त्यागसे) बहुत सुगमतासे अपना कल्याण कर सकता है।

नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूति होती है, प्राप्ति नहीं। जहाँ 'परमात्माकी प्राप्ति' कहा जाता है, वहाँ उसका अर्थ नित्यप्राप्तकी प्राप्ति या अनुभव ही मानना चाहिये। वह प्राप्ति साधनोंसे नहीं होती, प्रत्युत जडताके त्यागसे होती है। ममता, कामना और आसक्ति ही जडता है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, पदार्थ आदिको 'मैं' या 'मेरा' मानना ही जडता है। ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, तप आदि साधन करते-करते जब जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद होता है, तभी नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूति होती है। इस जडताका त्याग जितना कर्मफलत्यागसे अर्थात् कर्मयोगसे सुगम होता है, उतना ज्ञान, अभ्यास, ध्यान, तप आदिसे नहीं। कारण कि ज्ञानादि साधनोंमें शरीरादिको अपना और साधनको अपने लिये मानते रहनेसे जडता-(शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ-) से विशेष सम्बन्ध बना रहता है। इन साधनोंका लक्ष्य परमात्मप्राप्ति होनेसे आखिरमें सफलता तो मिल जाती है; किन्तु उसमें देरी और कठिनाई होती है। परन्तु कर्मयोगमें आरम्भसे ही जडताके त्यागका लक्ष्य रहता है। जडताका सम्बन्ध ही नित्यप्राप्त परमात्माकी अनुभूतिमें प्रधान बाधा है—यह बात अन्य साधनोंमें स्पष्ट प्रतीत नहीं होती।

जब साधक यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि मेरेको कभी किसी परिस्थितिमें मन, वाणी अथवा क्रियासे चोरी, झूठ, व्यभिचार, हिंसा, छल, कपट, अभक्ष्य-भक्षण आदि कोई शास्त्र-विरुद्ध कर्म नहीं करने हैं, तब उसके द्वारा स्वत: विहित कर्म होने लगते हैं।

साधकको निषिद्ध कर्मोंके त्यागका ही निश्चय करना चाहिये, न कि विहित कर्मोंको करनेका। कारण कि अगर साधक विहित कर्मोंको करनेका निश्चय करता है, तो उसमें विहित कर्म करनेका अभिमान आ जायगा, जिससे उसका 'अहम्' सुरक्षित रहेगा। विहित कर्म करनेका अभिमान

रहनेसे निषिद्ध कर्म होते हैं। परन्तु 'मैं निषिद्ध कर्म नहीं करूँगा' इस निषेधात्मक निश्चयमें किसी योग्यता, सामर्थ्यकी अपेक्षा न रहनेके कारण साधकमें अभिमान नहीं आता। निषिद्ध कर्मोंके त्यागमें भी मूर्खतासे अभिमान आ सकता है। अभिमान आनेपर विचार करे कि जो नहीं करना चाहिये,वह नहीं किया तो इसमें विशेषता किस बातकी? फलकी कामना भी तभी होती है, जब कुछ किया जाता है। जब कुछ किया ही नहीं, केवल निषिद्ध कर्मका त्याग ही किया है,* तब फलकी कामना क्यों होगी? अत: करनेका अभिमान न रहनेसे फलासक्तिका त्याग स्वत: हो जाता है। फलासक्तिका त्याग होनेपर शान्ति स्वत:सिद्ध है।

साधन-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्‌ने नवें, दसवें और ग्यारहवें श्लोकमें क्रमश: जो तीन साधन (अभ्यासयोग, भगवदर्थ-कर्म और कर्मफल-त्याग) बताये हैं, विचारपूर्वक देखा जाय तो उनमेंसे (कर्मफलत्यागको छोड़कर) प्रत्येक साधनमें शेष दोनों साधन भी आ जाते हैं; जैसे—(१)अभ्यासयोगमें भगवान्‌के लिये भजन, नाम-जप आदि क्रियाएँ करनेसे वह भगवदर्थ है ही और नाशवान् फलकी कामना न होनेसे उसमें कर्मफलत्याग भी है, (२) भगवदर्थ-कर्ममें भगवान्‌के लिये कर्म होनेसे अभ्यासयोग भी है और नाशवान् फलकी कामना न होनेसे कर्मफलत्याग भी है।

वास्तवमें साधकको सबसे पहले अपने लक्ष्य, ध्येय अथवा उद्‌देश्यको दृढ़ करना चाहिये। इसके बाद उसे यह पहचानना चाहिये कि उसका सम्बन्ध वास्तवमें किसके साथ है। फिर चाहे कोई भी साधन करे—अभ्यास करे, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करे अथवा कर्मफलत्याग करे, वही साधन उसके लिये श्रेष्ठ हो जायगा। जब साधकका यह लक्ष्य हो जायगा कि उसे भगवान्‌को ही प्राप्त करना है और वह यह भी पहचान लेगा कि अनादिकालसे उसका भगवान्‌के साथ स्वत:सिद्ध सम्बन्ध है, तब कोई भी साधन उसके लिये छोटा नहीं रह जायगा। किसी साधनका छोटा या बड़ा होना लौकिक दृष्टिसे ही है। वास्तवमें मुख्यता उद्‌देश्यकी ही है। अत: साधकको चाहिये कि वह अपने उद्‌देश्यमें कभी किंचिन्मात्र भी शिथिलता न आने दे।

किसी साधनकी सुगमता या कठिनता साधककी 'रुचि' और 'उद्‌देश्य' पर निर्भर करती है। रुचि और उद्‌देश्य एक भगवान्‌का होनेसे साधन सुगम होता है तथा रुचि संसारकी और उद्‌देश्य भगवान्‌का होनेसे साधन कठिन हो जाता है।

जैसे, भूख सबकी एक ही होती है और भोजन करनेपर तृप्तिका अनुभव भी सबको एक ही होता है, पर भोजनकी रुचि सबकी भिन्न-भिन्न होनेके कारण भोज्य-पदार्थ भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी तरह साधकोंकी रुचि, विश्वास और योग्यताके अनुसार साधन भी भिन्न-भिन्न होते हैं, पर भगवान्‌की अप्राप्तिका दु:ख तथा भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा (भूख) सभी साधकोंमें एक ही होती है। साधक चाहे किसी भी श्रेणीका क्यों न हो, साधनकी पूर्णताके बाद भगवत्प्राप्तिरूप आनन्दकी अनुभूति (तृप्ति) भी सबको एक-जैसी ही होती है।

इस प्रकरणमें अर्जुनको निमित्त बनाकर भगवान्‌ने मनुष्यमात्रके कल्याणके लिये चार साधन बताये हैं—(१) समर्पणयोग, (२) अभ्यासयोग, (३) भगवान्‌के लिये ही सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान और (४) सर्वकर्मफल-त्याग। यद्यपि चारों साधनोंका फल भगवत्प्राप्ति ही है, तथापि साधकोंमें रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यताकी भिन्नताके कारण ही भिन्न-भिन्न साधनोंका वर्णन हुआ है। वास्तवमें चारों ही साधन समानरूपसे स्वतन्त्र और श्रेष्ठ हैं। इसलिये साधक जो भी साधन अपनाये, उसे उस साधनको सर्वोपरि मानना चाहिये।

अपने साधनको किसी भी तरह हीन (निम्नश्रेणीका) नहीं मानना चाहिये और साधनकी सफलता-(भगवत्प्राप्ति-) के विषयमें कभी निराश भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि कोई भी साधन निम्नश्रेणीका नहीं होता। अगर साधकका एकमात्र उद्‌देश्य भगवत्प्राप्ति हो, साधन उसकी रुचि, विश्वास तथा योग्यताके अनुसार हो, साधन पूरी सामर्थ्य और तत्परता-(लगन-) से किया जाय और भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा भी तीव्र हो तो सभी साधन एक समान हैं। साधकको उद्‌देश्य, सामर्थ्य और तत्परताके विषयमें कभी हतोत्साह नहीं होना चाहिये। भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी सामर्थ्य और योग्यताको साधनमें लगा दे।

*** निषिद्ध कर्म न करनेका निश्चय होनेपर दो अवस्थाएँ होती हैं—या तो विहित कर्मोंमें प्रवृत्ति होगी या सर्वथा निवृत्ति। विहित कर्मोंमें प्रवृत्तिसे अन्त:करण निर्मल होता है और सर्वथा निवृत्ति होनेसे परमात्मामें स्थिति होती है। सर्वथा निवृत्तिका तात्पर्य वासनारहित अवस्थासे है, न कि अकर्मण्यता या आलस्यसे; क्योंकि आलस्य आदि भी निषिद्ध कर्म है।**

साधक चाहे भगवत्तत्त्वको ठीक-ठीक न जाने, पर सर्वज्ञ भगवान् तो उसके उद्देश्य, भाव, सामर्थ्य, तत्परता आदिको अच्छी तरह जानते ही हैं। यदि साधक अपने उद्देश्य, भाव, चेष्टा, तत्परता, उत्कण्ठा आदिमें किसी प्रकारकी कमी न आने दे तो भगवान् स्वयं उसे अपनी प्राप्ति करा देते हैं। वास्तवमें अपने उद्योग, बल, ज्ञान आदिकी कीमतसे भगवान्‌की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। अगर भगवान्‌के दिये हुए बल, ज्ञान आदिको भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही लगा दिया जाय तो वे साधकको कृपापूर्वक अपनी प्राप्ति करा देते हैं।

संसारमें भगवत्प्राप्ति ही सबसे सुगम है और इसके सभी अधिकारी हैं; क्योंकि इसीके लिये मनुष्यशरीर मिला है। सब प्राणियोंके कर्म भिन्न-भिन्न होनेके कारण किन्हीं दो व्यक्तियोंको भी संसारके पदार्थ एक समान नहीं मिल सकते, जब कि (भगवान् एक होनेसे) भगवत्प्राप्ति सबको एक समान ही होती है; क्योंकि भगवत्प्राप्ति कर्मजन्य नहीं है।

भगवान्‌की प्राप्तिमें संसारसे वैराग्य और भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा—ये दो बातें ही मुख्य हैं। इन दोनोंमेंसे किसी भी एक साधनके तीव्र होनेपर भगवत्प्राप्ति हो जाती है। फिर भी भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठामें विशेष शक्ति है।

ऊपर जो चार साधन बताये गये हैं, उनमेंसे प्रथम तीन साधन तो मुख्यतः भगवत्प्राप्तिकी उत्कण्ठा जाग्रत् करनेवाले हैं, और चौथा साधन (कर्मफलत्याग) मुख्यतः संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेवाला है।

साधन कोई भी हो; जब सांसारिक भोग दुःखदायी प्रतीत होने लगेंगे तथा भोगोंका हृदयसे त्याग होगा, तब (लक्ष्य भगवान् होनेसे) भगवान्‌की ओर स्वतः प्रगति होगी और भगवान्‌की कृपासे ही उनकी प्राप्ति हो जायगी।

इसी तरह जब भगवान् परमप्रिय लगने लगेंगे, उनके बिना रहा नहीं जायगा, उनके वियोगमें व्याकुलता होने लगेगी, तब शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी।

परिशिष्ट भाव—अभ्यास, शास्त्रज्ञान और ध्यान—ये तीनों तो करणसापेक्ष हैं, पर कर्मफलत्याग करणनिरपेक्ष है। कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ बतानेका कारण यह है कि लोगोंकी इस साधनमें निकृष्टबुद्धि है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कर्मफलत्याग पहलेके तीनों साधनोंसे श्रेष्ठ है। वास्तवमें ये चारों ही साधन श्रेष्ठ हैं और उन साधकोंके लिये हैं, जिनका उद्देश्य त्यागका है।

इस श्लोकमें आये चार साधनोंके अन्तर्गत दसवें श्लोकमें आये '**मदर्थमपि कर्माणि**' (भगवान्‌के लिये कर्म करना) को नहीं लिया गया है। इसका कारण यह है कि '**मदर्थमपि कर्माणि**' अर्थात् भक्तिमें ही साधनकी पूर्णता हो जाती है। अतः भक्ति और त्याग—दोनों ही साधन श्रेष्ठ हैं।

कर्मफलत्यागसे कर्मफलकी इच्छाका त्याग समझना चाहिये। इच्छा भीतर होती है और फलत्याग बाहर होता है। फलत्याग करनेपर भी भीतरमें उसकी इच्छा रह सकती है। अतः साधकका उद्देश्य कर्मफलकी इच्छाके त्यागका रहना चाहिये। इच्छाका त्याग होनेपर जन्म-मरणका कारण ही नहीं रहता। मुक्ति वस्तुके त्यागसे नहीं होती, प्रत्युत इच्छाके त्यागसे होती है।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने निर्गुण-निराकार ब्रह्म और सगुण-साकार भगवान्‌की उपासना करनेवाले उपासकोंमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ बताकर अर्जुनको सगुण-उपासना करनेकी आज्ञा दी। सगुण-उपासनाके अन्तर्गत भगवान्‌ने आठवेंसे ग्यारहवें श्लोकतक अपनी प्राप्तिके चार साधन बताये। अब तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक भगवान् पाँच प्रकरणोंमें चारों साधनोंसे सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए अपने प्रिय भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हैं। पहला प्रकरण तेरहवें और चौदहवें दो श्लोकोंका है, जिसमें सिद्ध भक्तके बारह लक्षण बताये गये हैं।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

सर्वभूतानाम्	= सब प्राणियोंमें	**समदुःखसुखः**	= सुख-दुःखकी प्राप्तिमें सम,	**मयि**	= मुझमें
अद्वेष्टा	= द्वेषभावसे रहित	**क्षमी**	= क्षमाशील,	**अर्पित-मनोबुद्धिः**	= अर्पित मन-बुद्धिवाला
च	= और	**सततम्**	= निरन्तर	**यः**	= जो
मैत्रः	= मित्रभाववाला (तथा)	**सन्तुष्टः**	= सन्तुष्ट,	**मद्भक्तः**	= मेरा भक्त है,
करुणः	= दयालु	**योगी**	= योगी,	**सः**	= वह
एव	= भी (और)	**यतात्मा**	= शरीरको वशमें किये हुए,	**मे**	= मुझे
निर्ममः	= ममतारहित,	**दृढनिश्चयः**	= दृढ़ निश्चयवाला,	**प्रियः**	= प्रिय है।
निरहङ्कारः	= अहंकाररहित,				

व्याख्या—**'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'**—अनिष्ट करनेवालोंके दो भेद हैं—(१) इष्टकी प्राप्तिमें अर्थात् धन, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार आदिकी प्राप्तिमें बाधा पैदा करनेवाले और (२) अनिष्ट पदार्थ, क्रिया, व्यक्ति, घटना आदिसे संयोग करानेवाले। भक्तके शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और सिद्धान्तके प्रतिकूल चाहे कोई कितना ही, किसी प्रकारका व्यवहार करे—इष्टकी प्राप्तिमें बाधा डाले, किसी प्रकारकी आर्थिक और शारीरिक हानि पहुँचाये, पर भक्तके हृदयमें उसके प्रति कभी किंचिन्मात्र भी द्वेष नहीं होता। कारण कि वह प्राणिमात्रमें अपने प्रभुको ही व्याप्त देखता है, ऐसी स्थितिमें वह विरोध करे तो किससे करे—

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

(मानस ७। ११२ ख)

इतना ही नहीं; वह तो अनिष्ट करनेवालोंकी सब क्रियाओंको भी भगवान्‌का कृपापूर्ण मंगलमय विधान ही मानता है!

प्राणिमात्र स्वरूपसे भगवान्‌का ही अंश है। अतः किसी भी प्राणीके प्रति थोड़ा भी द्वेषभाव रहना भगवान्‌के प्रति ही द्वेष है। इसलिये किसी प्राणीके प्रति द्वेष रहते हुए भगवान्‌से अभिन्नता तथा अनन्यप्रेम नहीं हो सकता। प्राणिमात्रके प्रति द्वेषभावसे रहित होनेपर ही भगवान्‌में पूर्ण प्रेम हो सकता है। इसलिये भक्तमें प्राणिमात्रके प्रति द्वेषका सर्वथा अभाव होता है।

'मैत्रः करुण एव च'*—भक्तके अन्तःकरणमें प्राणिमात्रके प्रति केवल द्वेषका अत्यन्त अभाव ही नहीं होता, प्रत्युत सम्पूर्ण प्राणियोंमें भगवद्भाव होनेके नाते उसका सबसे मैत्री और दयाका व्यवहार भी होता है। भगवान् प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—**'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५। २९)। भगवान्‌का स्वभाव भक्तमें अवतरित होनेके कारण भक्त भी सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् होता है—**'सुहृदः सर्वदेहिनाम्'** (श्रीमद्भागवत ३। २५। २१)। इसलिये भक्तका भी सभी प्राणियोंके प्रति बिना किसी स्वार्थके स्वाभाविक ही मैत्री और दयाका भाव रहता है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी।
तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस ७। ४७। ३)

अपना अनिष्ट करनेवालोंके प्रति भी भक्तके द्वारा मित्रताका व्यवहार होता है; क्योंकि उसका भाव यह रहता है कि अनिष्ट करनेवालेने अनिष्टरूपमें भगवान्‌का विधान ही प्रस्तुत किया है। अतः उसने जो कुछ किया है, मेरे लिये ठीक ही किया है। कारण कि भगवान्‌का विधान सदैव मंगलमय होता है। इतना ही नहीं, भक्त यह मानता है कि मेरा अनिष्ट करनेवाला (अनिष्टमें निमित्त बनकर) मेरे पूर्वकृत पापकर्मोंका नाश कर रहा है; अतः वह विशेषरूपसे आदरका पात्र है।

साधकमात्रके मनमें यह भाव रहता है और रहना ही चाहिये कि उसका अनिष्ट करनेवाला उसके पिछले पापोंका फल भुगताकर उसे शुद्ध कर रहा है। जब सामान्य साधकमें भी अनिष्ट करनेवालेके प्रति मैत्री और करुणाका भाव रहता है, फिर सिद्ध भक्तका तो कहना ही क्या है? सिद्ध भक्तका तो उसके प्रति ही क्या, प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और दयाका विलक्षण भाव रहता है।

पातंजलयोगदर्शनमें चित्त-शुद्धिके चार हेतु बताये गये हैं—

*** यहाँ भक्तके जो लक्षण बताये गये हैं, वे ज्ञानी (गुणातीत) पुरुषोंके (गीता—चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक वर्णित) लक्षणोंकी अपेक्षा भी अधिक एवं विलक्षण हैं। 'मैत्रः' और 'करुणः' पद भी यहीं—भक्तके लक्षणोंमें ही आये हैं।**

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।' (१। ३३)

'सुखियोंके प्रति मैत्री, दुःखियोंके प्रति करुणा, पुण्यात्माओंके प्रति मुदिता (प्रसन्नता) और पापात्माओंके प्रति उपेक्षाके भावसे चित्तमें निर्मलता आती है।'

परन्तु भगवान्‌ने इन चारों हेतुओंको दोमें विभक्त कर दिया है—'**मैत्रः च करुणः।**' तात्पर्य यह है कि सिद्ध भक्तका सुखियों और पुण्यात्माओंके प्रति 'मैत्री' का भाव तथा दुःखियों और पापात्माओंके प्रति 'करुणा' का भाव रहता है।

दुःख पानेवालेकी अपेक्षा दुःख देनेवालेपर (उपेक्षाका भाव न होकर) दया होनी चाहिये; क्योंकि दुःख पानेवाला तो (पुराने पापोंका फल भोगकर) पापोंसे छूट रहा है, पर दुःख देनेवाला नया पाप कर रहा है। अतः दुःख देनेवाला दयाका विशेष पात्र है।

'**निर्ममः**'—यद्यपि भक्तका प्राणिमात्रके प्रति स्वाभाविक ही मैत्री और करुणाका भाव रहता है, तथापि उसकी किसीके प्रति किंचिन्मात्र भी ममता नहीं होती। प्राणियों और पदार्थोंमें ममता (मेरेपनका भाव) ही मनुष्यको संसारमें बाँधनेवाली होती है। भक्त इस ममतासे सर्वथा रहित होता है। उसकी अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिमें भी बिलकुल ममता नहीं होती। साधकसे भूल यह होती है कि वह प्राणियों और पदार्थोंसे तो ममताको हटानेकी चेष्टा करता है, पर अपने शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे ममता हटानेकी ओर विशेष ध्यान नहीं देता। इसीलिये वह सर्वथा निर्मम नहीं हो पाता।

'**निरहंकारः**'—शरीर, इन्द्रियाँ आदि जड-पदार्थोंको अपना स्वरूप माननेसे अहंकार उत्पन्न होता है।

भक्तकी अपने शरीरादिके प्रति किंचिन्मात्र भी अहंबुद्धि न होनेके कारण तथा केवल भगवान्‌से अपने नित्य सम्बन्धका अनुभव हो जानेके कारण उसके अन्तःकरणमें स्वतः श्रेष्ठ, दिव्य, अलौकिक गुण प्रकट होने लगते हैं। इन गुणोंको भी वह अपने गुण नहीं मानता, प्रत्युत (दैवी सम्पत्ति होनेसे) भगवान्‌के ही मानता है। 'सत्'-(परमात्मा-)के होनेके कारण ही ये गुण 'सद्‌गुण' कहलाते हैं। ऐसी दशामें भक्त उनको अपना मान ही कैसे सकता है! इसलिये वह अहंकारसे सर्वथा रहित होता है।

'**समदुःखसुखः**'—भक्त सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम रहता है अर्थात् अनुकूलता-प्रतिकूलता उसके हृदयमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार पैदा नहीं कर सकते।

गीतामें 'सुख-दुःख' पद अनुकूलता-प्रतिकूलताकी परिस्थिति-(जो सुख-दुःख उत्पन्न करनेमें हेतु है) के लिये तथा अन्तःकरणमें होनेवाले हर्ष-शोकादि विकारोंके लिये भी आया है।

अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति मनुष्यको सुखी-दुःखी बनाकर ही उसे बाँधती है। इसलिये सुख-दुःखमें सम होनेका अर्थ है—अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर अपनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना।

भक्तके शरीर, इन्द्रियाँ, मन, सिद्धान्त आदिके अनुकूल या प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति, घटना आदिका संयोग या वियोग होनेपर उसे अनुकूलता और प्रतिकूलताका 'ज्ञान' तो होता है, पर उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि कोई 'विकार' उत्पन्न नहीं होता। यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिये कि किसी परिस्थितिका ज्ञान होना अपने-आपमें कोई दोष नहीं है, प्रत्युत उससे अन्तःकरणमें विकार उत्पन्न होना ही दोष है। भक्त राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंसे सर्वथा रहित होता है। जैसे, प्रारब्धानुसार भक्तके शरीरमें कोई रोग होनेपर उसे शारीरिक पीड़ाका ज्ञान (अनुभव) तो होगा; किन्तु उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं होगा।

'**क्षमी**'—अपना किसी तरहका भी अपराध करनेवालेको किसी भी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर उसे क्षमा कर देनेवालेको '**क्षमी**' कहते हैं।

भक्तके लक्षणोंमें पहले '**अद्वेष्टा**' पद देकर भगवान्‌ने भक्तमें अपना अपराध करनेवालेके प्रति द्वेषका अभाव बताया, अब यहाँ '**क्षमी**' पदसे यह बताते हैं कि भक्तमें अपना अपराध करनेवालेके प्रति ऐसा भाव रहता है कि उसको भगवान् अथवा अन्य किसीके द्वारा भी दण्ड न मिले। ऐसा क्षमाभाव भक्तकी एक विशेषता है।

'**सन्तुष्टः सततम्**'*—जीवको मनके अनुकूल प्राणी,

*** ऐसे संतोषीके लिये भागवतकार कहते हैं—**

सदा संतुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः। शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम्॥

(श्रीमद्भागवत ७। १५। १७)

'जैसे पैरोंमें जूते पहनकर चलनेवालेको कंकड़ और काँटोंसे कोई भय नहीं होता, ऐसे ही जिसके मनमें संतोष है, उसके लिये सर्वदा सब जगह सुख-ही-सुख है, दुःख है ही नहीं।'

पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिके संयोगमें और मनके प्रतिकूल प्राणी, पदार्थ, घटना, परिस्थिति आदिके वियोगमें एक संतोष होता है। विजातीय और अनित्य पदार्थोंसे होनेके कारण यह संतोष स्थायी नहीं रह पाता। स्वयं नित्य होनेके कारण जीवको नित्य परमात्माकी अनुभूतिसे ही वास्तविक और स्थायी संतोष होता है।

भगवान्‌को प्राप्त होनेपर भक्त नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहता है; क्योंकि न तो उसका भगवान्‌से कभी वियोग होता है और न उसको नाशवान् संसारकी कोई आवश्यकता ही रहती है। अतः उसके असंतोषका कोई कारण ही नहीं रहता। इस संतुष्टिके कारण वह संसारके किसी भी प्राणी-पदार्थके प्रति किंचिन्मात्र भी महत्त्वबुद्धि नहीं रखता*।

'**सन्तुष्टः**' के साथ '**सततम्**' पद देकर भगवान्‌ने भक्तके उस नित्य-निरन्तर रहनेवाले संतोषकी ओर ही लक्ष्य कराया है, जिसमें न तो कभी कोई अन्तर पड़ता है और न कभी अन्तर पड़नेकी सम्भावना ही रहती है। कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोग—किसी भी योगमार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले महापुरुषमें ऐसी संतुष्टि (जो वास्तवमें है) निरन्तर रहती है।

'**योगी**'—भक्तियोगके द्वारा परमात्माको प्राप्त (नित्य-निरन्तर परमात्मासे संयुक्त) पुरुषका नाम यहाँ 'योगी' है।

वास्तवमें किसी भी मनुष्यका परमात्मासे कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं, हो सकता नहीं और सम्भव ही नहीं। इस वास्तविकताका जिसने अनुभव कर लिया है, वही 'योगी' है।

'**यतात्मा**'—जिसका मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित शरीरपर पूर्ण अधिकार है, वह 'यतात्मा' है। सिद्ध भक्तको मन-बुद्धि आदि वशमें करने नहीं पड़ते, प्रत्युत ये स्वाभाविक ही उसके वशमें रहते हैं। इसलिये उसमें किसी प्रकारके इन्द्रियजन्य दुर्गुण-दुराचारके आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती।

वास्तवमें मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ स्वाभाविकरूपसे सन्मार्गपर चलनेके लिये ही हैं; किन्तु संसारसे रागयुक्त सम्बन्ध रहनेसे ये मार्गच्युत हो जाती हैं। भक्तका संसारसे किंचिन्मात्र भी रागयुक्त सम्बन्ध नहीं होता, इसलिये उसकी मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ सर्वथा उसके वशमें होती हैं। अतः उसकी प्रत्येक क्रिया दूसरोंके लिये आदर्श होती है।

ऐसा देखा जाता है कि न्याय-पथपर चलनेवाले सत्पुरुषोंकी इन्द्रियाँ भी कभी कुमार्गगामी नहीं होतीं। जैसे, राजा दुष्यन्तकी वृत्ति शकुन्तलाकी ओर जानेपर उन्हें दृढ़ विश्वास हो जाता है कि यह क्षत्रिय-कन्या ही है, ब्राह्मण-कन्या नहीं। कवि कालिदासके कथनानुसार जहाँ सन्देह हो, वहाँ सत्पुरुषके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है—

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् १। २१)

जब न्यायशील सत्पुरुषकी इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति भी स्वतः कुमार्गकी ओर नहीं होती, तब सिद्ध भक्त (जो न्यायधर्मसे कभी किसी अवस्थामें च्युत नहीं होता-) की मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ कुमार्गकी ओर जा ही कैसे सकती हैं!

'**दृढनिश्चयः**'—सिद्ध महापुरुषकी दृष्टिमें संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका सर्वथा अभाव रहता है। उसकी बुद्धिमें एक परमात्माकी ही अटल सत्ता रहती है। अतः उसकी बुद्धिमें विपर्यय-दोष (प्रतिक्षण बदलनेवाले संसारका स्थायी दीखना) नहीं रहता। उसको एक भगवान्‌के साथ ही अपने नित्यसिद्ध सम्बन्धका अनुभव होता रहता है। अतः उसका भगवान्‌में ही दृढ़ निश्चय होता है। उसका यह निश्चय बुद्धिमें नहीं, प्रत्युत 'स्वयं' में होता है, जिसका आभास बुद्धिमें प्रतीत होता है।

संसारकी स्वतन्त्र सत्ता माननेसे अथवा संसारसे अपना सम्बन्ध माननेसे ही बुद्धिमें विपर्यय और संशयरूप दोष उत्पन्न होते हैं। विपर्यय और संशययुक्त बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती। ज्ञानी और अज्ञानी पुरुषकी बुद्धिके निश्चयमें ही अन्तर होता है; स्वरूपसे तो दोनों समान ही होते हैं। अज्ञानीकी बुद्धिमें संसारकी सत्ता और उसका महत्त्व रहता है; परन्तु सिद्ध भक्तकी बुद्धिमें एक भगवान्‌के सिवाय न तो संसारकी किसी वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता रहती है और न उसका कोई महत्त्व ही रहता है। अतः उसकी बुद्धि विपर्यय और संशयदोषसे सर्वथा रहित होती है और उसका केवल परमात्मामें ही दृढ़ निश्चय होता है।

'**मय्यर्पितमनोबुद्धिः**'—जब साधक एकमात्र भगवत्प्राप्तिको ही अपना उद्देश्य बना लेता है और स्वयं भगवान्‌का ही हो जाता है (जो कि वास्तवमें है) तब उसके मन-बुद्धि भी अपने-आप भगवान्‌में लग जाते हैं। फिर

* संत कबीरदासजी कहते हैं—

गोधन गजधन बाजिधन, और रतन धन खान। जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान॥

सिद्ध भक्तके मन-बुद्धि भगवान्के अर्पित रहें—इसमें तो कहना ही क्या है!

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ स्वाभाविक ही मनुष्यका मन लगता है और जिसे मनुष्य सिद्धान्तसे श्रेष्ठ समझता है, उसमें स्वाभाविक ही उसकी बुद्धि लगती है। भक्तके लिये भगवान्से बढ़कर कोई प्रिय और श्रेष्ठ होता ही नहीं। भक्त तो मन-बुद्धिपर अपना अधिकार ही नहीं मानता। वह तो इनको सर्वथा भगवान्का ही मानता है। अत: उसके मन-बुद्धि स्वाभाविक ही भगवान्में लगे रहते हैं।

'यः मद्भक्तः स मे प्रियः'*—भगवान्को तो सभी प्रिय हैं; परन्तु भक्तका प्रेम भगवान्के सिवाय और कहीं नहीं होता। ऐसी दशामें **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** (गीता ४। ११)—इस प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान्को भी भक्त प्रिय होता है।

परिशिष्ट भाव—गीतामें कर्मयोगीके लक्षण भी आये हैं (दूसरे अध्यायके पचपनवेंसे बहत्तरवें श्लोकतक और छठे अध्यायके सातवेंसे नवें श्लोकतक), ज्ञानयोगीके लक्षण भी आये हैं (चौदहवें अध्यायके बाईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक) और भक्तके लक्षण भी आये हैं (बारहवें अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक)। परन्तु केवल भक्तके लक्षणोंमें ही भगवान्ने कहा है—**'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च'।** यह लक्षण (मित्रता और करुणा) न कर्मयोगीके लक्षणोंमें आया है, न ज्ञानयोगीके लक्षणोंमें, प्रत्युत केवल भक्तके लक्षणोंमें आया है। कर्मयोगी और ज्ञानयोगीमें समता तो होती है, पर मित्रता और करुणा नहीं होती। परन्तु भक्तमें आरम्भसे ही मित्रता और करुणा होती है।

भक्तकी दृष्टिमें सम्पूर्ण प्राणी समग्र भगवान्का अंग होनेसे अपने प्रभु ही हैं, फिर कौन वैर करे, किससे करे और क्यों करे?—**'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'** (मानस, उत्तर० ११२ ख)। उदाहरणके लिये, किसीको राम प्रिय हैं, किसीको कृष्ण प्रिय हैं, किसीको शंकर प्रिय हैं तो इष्ट अलग-अलग होनेपर भी वे सब भक्त परस्पर एक हो सकते हैं, पर सब ज्ञानयोगी परस्पर एक नहीं हो सकते। अगर भक्त और ज्ञानयोगी परस्पर मिलें तो भक्त ज्ञानयोगीका जितना आदर करेगा, उतना ज्ञानयोगी भक्तका नहीं कर सकेगा। इसलिये भक्तोंका लक्षण बताया है—**'सबहि मानप्रद आपु अमानी'** (मानस, उत्तर० ३८। २)।

श्रीरामचरितमानसके आरम्भमें गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज सज्जनोंके साथ-साथ दुष्टोंकी भी वन्दना करते हैं और सच्चे भावसे करते हैं—**'बहुरि बंदि खल गन सतिभाएँ'** (मानस, बाल० ४। १)। ऐसा भक्त ही कर सकता है, ज्ञानयोगी नहीं! यद्यपि ज्ञानयोगीका किसीसे कभी किंचिन्मात्र भी वैर नहीं होता, तथापि उसमें स्वाभाविक उदासीनता, तटस्थता रहती है। विवेकमार्ग-(ज्ञान-)में वैराग्यकी मुख्यता रहती है और वैराग्य रूखा होता है। इसलिये ज्ञानयोगीमें भीतरसे कठोरता न होनेपर भी वैराग्य, उदासीनताके कारण बाहरसे कठोरता प्रतीत होती है।

सुख लेनेमें कठोरता रहती है और सुख देनेमें कोमलता रहती है। ज्ञानयोगी मोक्षका भी सुख लेता है, तो उसमें कठोरता रहती है। परन्तु दूसरेको सुख देनेका भाव होनेसे भक्तमें आरम्भसे ही कोमलता रहती है। भक्तके मनमें वैरीसे भी द्वेष नहीं होता। ज्ञानयोगी पिताकी तरह होता है और भक्त माँकी तरह, इसलिये भक्तमें करुणा ज्यादा होती है।

'एव' पद देनेका तात्पर्य है कि भक्त द्वेषभावसे रहित होता है—इतनी ही बात नहीं है, वह मित्रभाववाला और दयालु भी होता है।

'निर्ममो निरहंकारः'—प्रत्येक साधकके लिये निर्मम और निरहंकार होना बहुत आवश्यक है, इसलिये गीतामें भगवान्ने कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों ही योगमार्गोंमें निर्मम और निरहंकार होनेकी बात कही है—कर्मयोगमें **'निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति'** (२। ७१), ज्ञानयोगमें **'अहंकारं ······ विमुच्य निर्ममः**

---

* भगवान् श्रीराम कहते हैं—

अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥
पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥

(मानस, उत्तर० ८७। ४, ८७ क)

शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते' (१८। ५३) और भक्तियोगमें '**निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी**' (१२। १३)। इस विषयमें एक विशेष ध्यान देनेकी बात है कि वास्तवमें हमारा स्वरूप अहंता-ममतासे रहित है। अहंता (मैंपन) और ममता (मेरापन)—दोनों अपने स्वरूपमें मानी हुई हैं, वास्तविक नहीं हैं। अगर ये वास्तविक होतीं तो हम कभी निर्मम और निरहंकार नहीं हो सकते और भगवान् भी सबके लिये निर्मम और निरहंकार होनेकी बात नहीं कहते। परन्तु हम निर्मम और निरहंकार हो सकते हैं, तभी भगवान् ऐसा कहते हैं।

कर्मयोगमें पहले 'कामना'का त्याग होता है, फिर कर्मयोगी स्वतः निर्मम-निरहंकार हो जाता है (गीता—दूसरे अध्यायका इकहत्तरवाँ श्लोक)। ज्ञानयोगमें पहले 'अहंकार'का त्याग होता है, फिर ज्ञानयोगी स्वतः निर्मम हो जाता है (गीता—अठारहवें अध्यायका तिरपनवाँ श्लोक)। भक्तियोगमें भक्त अपने-आपको भगवान्‌के अर्पित कर देता है तो भगवत्कृपासे वह स्वतः निर्मम-निरहंकार हो जाता है।

'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः'—यहाँ **'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'** पद उस मनुष्यका वाचक है, जिसने स्वयंको (अपने-आपको) भगवान्‌के अर्पित कर दिया है। स्वयं अर्पित होनेसे मन-बुद्धि भी स्वतः भगवान्‌के अर्पित हो जाते हैं। स्वयं अर्पित होनेसे फिर कुछ बाकी रहता ही नहीं। कारण कि स्वयं पहले है, शरीर-मन-बुद्धि आदि पीछे हैं। भक्त पहले है, मनुष्य पीछे है। भगवान्‌में अर्पित होनेसे मन-बुद्धिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, प्रत्युत केवल भगवान् ही रहते हैं।

भगवान्‌का परा और अपरा दोनों प्रकृतियोंके साथ समान सम्बन्ध है, पर जीव-(परा-) का सम्बन्ध अपराके साथ नहीं है। कारण कि जीव अपरा प्रकृतिसे उत्कृष्ट है और भगवान्‌का अंश है। इसलिये जीवका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है। **'मय्यर्पितमनोबुद्धिः'** का तात्पर्य है कि जीव अपरा प्रकृति-(मन-बुद्धि-) को अपना न माने, प्रत्युत भगवान्‌को ही अपना माने*।

भगवान् ज्ञानस्वरूप और नित्य परिपूर्ण हैं। अतः उनमें ज्ञानकी भूख (जिज्ञासा) तो नहीं है, पर प्रेमकी भूख (प्रेम-पिपासा) अवश्य है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मेरेमें अर्पित मन-बुद्धिवाला जो मेरा भक्त है, वह मेरेको प्रिय है। ऐसे भक्तके सिवाय भगवान्‌को प्यारा और कोई हो ही नहीं सकता।

जैसे किसी राजाका बेटा दूसरोंसे भीख माँगने लगे तो वह राजाको नहीं सुहाता, ऐसे ही सत्-चित्-आनन्दरूप भगवान्‌का अंश जीव जब असत्-जड़-दुःखरूप संसारसे कुछ आशा रखता है, तब वह भगवान्‌को नहीं सुहाता, प्यारा नहीं लगता; क्योंकि इसमें जीवका महान् अहित है। भगवान्‌को वही प्यारा लगता है, जो अन्यसे आशा नहीं रखता तथा जिसमें जीवका परम हित होता है—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥ (मानस, अरण्य० १०। ४)

सम्बन्ध—सिद्ध भक्तके लक्षणोंका दूसरा प्रकरण, जिसमें छः लक्षणोंका वर्णन है, आगेके श्लोकमें आया है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

यस्मात्	= जिससे	**लोकात्**	= किसी प्राणीसे		भय और उद्वेग-(हलचल-) से
लोकः	= कोई भी प्राणी	**न, उद्विजते**	= उद्विग्न नहीं होता	**मुक्तः**	= रहित है,
न, उद्विजते	= उद्विग्न (क्षुब्ध) नहीं होता	**च**	= तथा	**सः**	= वह
च	= और	**यः**	= जो	**मे**	= मुझे
यः	= जो स्वयं भी	**हर्षामर्ष-भयोद्वेगैः**	= हर्ष, अमर्ष (ईर्ष्या),	**प्रियः**	= प्रिय है।

* **यहाँ 'मन'के अन्तर्गत चित्तको और बुद्धिके अन्तर्गत अहम्‌को भी लेना चाहिये।**

व्याख्या—'**यस्मान्नोद्विजते लोकः**'—भक्त सर्वत्र और सबमें अपने परमप्रिय प्रभुको ही देखता है। अत: उसकी दृष्टिमें मन, वाणी और शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाएँ एकमात्र भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होती हैं (गीता ६। ३१)। ऐसी अवस्थामें भक्त किसी भी प्राणीको उद्वेग कैसे पहुँचा सकता है? फिर भी भक्तोंके चरित्रमें यह देखनेमें आता है कि उनकी महिमा, आदर-सत्कार तथा कहीं-कहीं उनकी क्रिया, यहाँतक कि उनकी सौम्य आकृतिमात्रसे भी कुछ लोग ईर्ष्यावश उद्विग्न हो जाते हैं और भक्तोंसे अकारण द्वेष और विरोध करने लगते हैं।

लोगोंको भक्तसे होनेवाले उद्वेगके सम्बन्धमें विचार किया जाय, तो यही पता चलेगा कि भक्तकी क्रियाएँ कभी किसीके उद्वेगका कारण नहीं होतीं; क्योंकि भक्त प्राणिमात्रमें भगवान्‌को ही देखता है—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)। उसकी मात्र क्रियाएँ स्वभावत: प्राणियोंके परमहितके लिये ही होती हैं। उसके द्वारा कभी भूलसे भी किसीके अहितकी चेष्टा नहीं होती। जिनको उससे उद्वेग होता है, वह उनके अपने राग-द्वेषयुक्त आसुर स्वभावके कारण ही होता है। अपने ही दोषयुक्त स्वभावके कारण उनको भक्तकी हितपूर्ण चेष्टाएँ भी उद्वेगजनक प्रतीत होती हैं। इसमें भक्तका क्या दोष? भर्तृहरिजी कहते हैं—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनाम्।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति॥

(भर्तृहरि-नीतिशतक ६१)

'हरिण, मछली और सज्जन क्रमशः तृण, जल और संतोषपर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं (किसीको कुछ नहीं कहते); परन्तु व्याध, मछुए और दुष्टलोग अकारण ही इनसे वैर करते हैं।'

वास्तवमें भक्तोंद्वारा दूसरे मनुष्योंके उद्विग्न होनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता, प्रत्युत भक्तोंके चरित्रमें ऐसे प्रसंग देखनेमें आते हैं कि उनसे द्वेष रखनेवाले लोग भी उनके चिन्तन और संग-दर्शन-स्पर्श-वार्तालापके प्रभावसे अपना आसुर स्वभाव छोड़कर भक्त हो गये। ऐसा होनेमें भक्तोंका उदारतापूर्ण स्वभाव ही हेतु है।

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

(मानस ५। ४१। ४)

परन्तु भक्तोंसे द्वेष करनेवाले सभी लोगोंको लाभ ही होता हो—ऐसा नियम भी नहीं है।

अगर ऐसा मान लिया जाय कि भक्तसे किसीको उद्वेग होता ही नहीं अथवा दूसरे लोग भक्तके विरुद्ध कोई चेष्टा करते ही नहीं या भक्तके शत्रु-मित्र होते ही नहीं, तो फिर भक्तके लिये शत्रु-मित्र, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदिमें सम होनेकी बात (जो आगे अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोंमें कही गयी है) नहीं कही जाती। तात्पर्य यह है कि लोगोंको अपने आसुर स्वभावके कारण भक्तकी हितकर क्रियाओंसे भी उद्वेग हो सकता है और वे बदलेकी भावनासे भक्तके विरुद्ध चेष्टा कर सकते हैं तथा अपनेको उस भक्तका शत्रु मान सकते हैं; परन्तु भक्तकी दृष्टिमें न तो कोई शत्रु होता है और न किसीको उद्विग्न करनेका उसका भाव ही होता है।

'**लोकान्नोद्विजते च यः**'—पहले भगवान्‌ने बताया कि भक्तसे किसी प्राणीको उद्वेग नहीं होता और अब उपर्युक्त पदोंसे यह बताते हैं कि भक्तको खुद भी किसी प्राणीसे उद्वेग नहीं होता। इसके दो कारण हैं—

(१) भक्तके शरीर, मन, इन्द्रियाँ, सिद्धान्त आदिके विरुद्ध भी अनिच्छा या परेच्छासे क्रियाएँ और घटनाएँ हो सकती हैं। परन्तु वास्तविकताका बोध होने तथा भगवान्‌में अत्यन्त प्रेम होनेके कारण भक्त भगवत्प्रेममें इतना निमग्न रहता है कि उसको सर्वत्र और सबमें भगवान्‌के ही दर्शन होते हैं। इसलिये प्राणिमात्रकी क्रियाओंमें (चाहे उनमें कुछ उसके प्रतिकूल ही क्यों न हों) उसको भगवान्‌की ही लीला दिखायी देती है। अत: उसको किसी भी क्रियासे कभी उद्वेग नहीं होता।

(२) मनुष्यको दूसरोंसे उद्वेग तभी होता है, जब उसकी कामना, मान्यता, साधना, धारणा आदिका विरोध होता है। भक्त सर्वथा पूर्णकाम होता है। इसलिये दूसरोंसे उद्विग्न होनेका कोई कारण ही नहीं रहता।

'**हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः**'—यहाँ हर्षसे मुक्त होनेका तात्पर्य यह है कि सिद्ध भक्त सब प्रकारके हर्षादि विकारोंसे सर्वथा रहित होता है। पर इसका आशय यह नहीं है कि सिद्ध भक्त सर्वथा हर्षरहित (प्रसन्नताशून्य) होता है, प्रत्युत उसकी प्रसन्नता तो नित्य, एकरस, विलक्षण और अलौकिक होती है। हाँ, उसकी प्रसन्नता सांसारिक पदार्थोंके संयोग-वियोगसे उत्पन्न क्षणिक, नाशवान् तथा घटने-बढ़नेवाली नहीं होती। सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि रहनेसे एकमात्र अपने इष्टदेव भगवान्‌को और उनकी लीलाओंको देख-देखकर वह सदा ही प्रसन्न रहता है।

किसीके उत्कर्ष-(उन्नति-) को सहन न करना 'अमर्ष' कहलाता है। दूसरे लोगोंको अपने समान या अपनेसे

अधिक सुख-सुविधा, धन, विद्या, महिमा, आदर-सत्कार आदि प्राप्त हुआ देखकर साधारण मनुष्यके अन्त:करणमें उनके प्रति ईर्ष्या होने लगती है; क्योंकि उसको दूसरोंका उत्कर्ष सहन नहीं होता।

कई बार कुछ साधकोंके अन्त:करणमें भी दूसरे साधकोंकी आध्यात्मिक उन्नति और प्रसन्नता देखकर अथवा सुनकर किंचित् ईर्ष्याका भाव पैदा हो जाता है। पर भक्त इस विकारसे सर्वथा रहित होता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें अपने प्रिय प्रभुके सिवाय अन्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता रहती ही नहीं। फिर वह किसके प्रति अमर्ष करे और क्यों करे?

अगर साधकके हृदयमें दूसरोंकी आध्यात्मिक उन्नति देखकर ऐसा भाव पैदा होता है कि मेरी भी ऐसी ही आध्यात्मिक उन्नति हो, तो यह भाव उसके साधनमें सहायक होता है। परन्तु अगर साधकके हृदयमें ऐसा भाव पैदा हो जाय कि इसकी उन्नति क्यों हो गयी, तो ऐसे दुर्भावके कारण उसके हृदयमें अमर्षका भाव पैदा हो जायगा, जो उसे पतनकी ओर ले जानेवाला होगा।

इष्टके वियोग और अनिष्टके संयोगकी आशंकासे होनेवाले विकारको '**भय**' कहते हैं। भय दो कारणोंसे होता है—(१) बाहरी कारणोंसे; जैसे—सिंह, साँप, चोर, डाकू आदिसे अनिष्ट होने अथवा किसी प्रकारकी सांसारिक हानि पहुँचनेकी आशंकासे होनेवाला भय और (२) भीतरी कारणोंसे; जैसे—चोरी, झूठ, कपट, व्यभिचार आदि शास्त्र-विरुद्ध भावों तथा आचरणोंसे होनेवाला भय।

सबसे बड़ा भय मौतका होता है। विवेकशील कहे जानेवाले पुरुषोंको भी प्राय: मौतका भय बना रहता है।* साधकको भी प्राय: सत्संग-भजन-ध्यानादि साधनोंसे शरीरके कृश होने आदिका भय रहता है। उसको कभी-कभी यह भय भी होता है कि संसारसे सर्वथा वैराग्य हो जानेपर मेरे शरीर और परिवारका पालन कैसे होगा! साधारण मनुष्यको अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचानेवाले अपनेसे बलवान् मनुष्यसे भय होता है। ये सभी भय केवल शरीर-(जडता-) के आश्रयसे ही पैदा होते हैं। भक्त सर्वथा भगवच्चरणोंके आश्रित रहता है, इसलिये वह सदा-सर्वदा भयरहित होता है। साधकको भी तभीतक भय रहता है, जबतक वह सर्वथा भगवच्चरणोंके आश्रित नहीं हो जाता।

सिद्ध भक्तको तो सदा, सर्वत्र अपने प्रिय प्रभुकी लीला ही दीखती है। फिर भगवान्‌की लीला उसके हृदयमें भय कैसे पैदा कर सकती है!

मनका एकरूप न रहकर हलचलयुक्त हो जाना '**उद्वेग**' कहलाता है। इस (पंद्रहवें) श्लोकमें '**उद्वेग**' शब्द तीन बार आया है। पहली बार उद्वेगकी बात कहकर भगवान्‌ने यह बताया कि भक्तकी कोई भी क्रिया उसकी ओरसे किसी मनुष्यके उद्वेगका कारण नहीं बनती। दूसरी बार उद्वेगकी बात कहकर यह बताया कि दूसरे मनुष्योंकी किसी भी क्रियासे भक्तके अन्त:करणमें उद्वेग नहीं होता। इसके सिवाय दूसरे कई कारणोंसे भी मनुष्यको उद्वेग हो सकता है; जैसे बार-बार कोशिश करनेपर भी अपना कार्य पूरा न होना, कार्यका इच्छानुसार फल न मिलना, अनिच्छासे ऋतु-परिवर्तन; भूकम्प, बाढ़ आदि दु:खदायी घटनाएँ घटना; अपनी कामना, मान्यता, सिद्धान्त अथवा साधनमें विघ्न पड़ना आदि। भक्त इन सभी प्रकारके उद्वेगोंसे सर्वथा मुक्त होता है—यह बतानेके लिये ही तीसरी बार उद्वेगकी बात कही गयी है। तात्पर्य यह है कि भक्तके अन्त:करणमें '**उद्वेग**' नामकी कोई चीज रहती ही नहीं।

उद्वेगके होनेमें अज्ञानजनित इच्छा और आसुर स्वभाव ही कारण है। भक्तमें अज्ञानका सर्वथा अभाव होनेसे कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं रहती, फिर आसुर स्वभाव तो साधना-अवस्थामें ही नष्ट हो जाता है। भगवान्‌की इच्छा ही भक्तकी इच्छा होती है। भक्त अपनी क्रियाओंके फलरूपमें अथवा अनिच्छासे प्राप्त अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें भगवान्‌का कृपापूर्ण विधान ही देखता है और निरन्तर आनन्दमें मग्न रहता है। अत: भक्तमें उद्वेगका सर्वथा अभाव होता है।

'**मुक्त:**' पदका अर्थ है—विकारोंसे सर्वथा छूटा हुआ। अन्त:करणमें संसारका आदर रहनेसे अर्थात् परमात्मामें पूर्णतया मन-बुद्धि न लगनेसे ही हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग आदि विकार उत्पन्न होते हैं। परन्तु भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय अन्य किसीकी स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता न रहनेसे उसमें ये विकार उत्पन्न ही नहीं होते। उसमें स्वाभाविक ही सद्‌गुण-सदाचार रहते हैं।

इस श्लोकमें भगवान्‌ने '**भक्त:**' पद न देकर '**मुक्त:**' पद दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि भक्त यावन्मात्र दुर्गुण-दुराचारोंसे सर्वथा रहित होता है।

गुणोंका अभिमान होनेसे दुर्गुण अपने-आप आ जाते हैं।

* **स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेश:॥ (पातंजलयोगदर्शन २। ९)**

अपनेमें किसी गुणके आनेपर अभिमानरूप दुर्गुण उत्पन्न हो जाय तो उस गुणको गुण कैसे माना जा सकता है? दैवी सम्पत्ति (सद्गुण)-से कभी आसुरी सम्पत्ति (दुर्गुण) उत्पन्न नहीं हो सकती। अगर दैवी सम्पत्तिसे आसुरी सम्पत्तिकी उत्पत्ति होती तो '**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**' (गीता १६। ५)—इन भगवद्वचनोंके अनुसार मनुष्य मुक्त कैसे होता? वास्तवमें गुणोंके अभिमानमें गुण कम तथा दुर्गुण (अभिमान) अधिक होता है। अभिमानसे दुर्गुणोंकी वृद्धि होती है; क्योंकि सभी दुर्गुण-दुराचार अभिमानके ही आश्रित रहते हैं।

भक्तको तो प्राय: इस बातकी जानकारी ही नहीं होती कि मेरेमें कोई गुण है। अगर उसको अपनेमें कभी कोई गुण दीखता भी है तो वह उसको भगवान्का ही मानता है, अपना नहीं। इस प्रकार गुणोंका अभिमान न होनेके कारण भक्त सभी दुर्गुण-दुराचारों, विकारोंसे मुक्त होता है भक्तको भगवान् प्रिय होते हैं, इसलिये भगवान्को भी भक्त प्रिय होते हैं, (गीता—सातवें अध्यायका सत्रहवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—दूसरेको सत्ता देनेसे ही उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि होते हैं। भक्तकी दृष्टिमें एक भगवान्के सिवाय दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं, फिर वह किससे उद्वेग, ईर्ष्या, भय आदि करे और क्यों करे?—'**निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध**' (मानस, उत्तर० ११२ ख)।

सम्बन्ध—सिद्ध भक्तके छ: लक्षण बतानेवाला तीसरा प्रकरण आगेके श्लोकमें आया है।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १६॥

यः = जो, **अनपेक्षः** = अपेक्षा-(आवश्यकता-) से रहित, **शुचिः** = (बाहर-भीतरसे) पवित्र, **दक्षः** = चतुर, **उदासीनः** = उदासीन, **गतव्यथः** = व्यथासे रहित (और), **सर्वारम्भ-परित्यागी** = सभी आरम्भोंका अर्थात् नये-नये कर्मोंके आरम्भका सर्वथा त्यागी है, **सः** = वह, **मद्भक्तः** = मेरा भक्त, **मे** = मुझे, **प्रियः** = प्रिय है।

व्याख्या—'**अनपेक्षः**'—भक्त भगवान्को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है। उसकी दृष्टिमें भगवत्प्राप्तिसे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं होता। अत: संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका किंचिन्मात्र भी खिंचाव नहीं होता। इतना ही नहीं, अपने कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धिमें भी उसका अपनापन नहीं रहता, प्रत्युत वह उनको भी भगवान्का ही मानता है, जो कि वास्तवमें भगवान्के ही हैं। अत: उसको शरीर-निर्वाहकी भी चिन्ता नहीं होती। फिर वह और किस बातकी अपेक्षा करे? अर्थात् फिर उसे किसी भी वस्तुकी इच्छा-वासना-स्पृहा नहीं रहती।

भक्तपर चाहे कितनी ही बड़ी आपत्ति आ जाय, आपत्तिका ज्ञान होनेपर भी उसके चित्तपर प्रतिकूल प्रभाव नहीं होता। भयंकर-से-भयंकर परिस्थितिमें भी वह भगवान्की लीलाका अनुभव करके मस्त रहता है। इसलिये वह किसी प्रकारकी अनुकूलताकी कामना नहीं करता। नाशवान् पदार्थ तो रहते नहीं, उनका वियोग अवश्यम्भावी है और अविनाशी परमात्मासे कभी वियोग होता ही नहीं—इस वास्तविकताको जाननेके कारण भक्तमें स्वाभाविक ही नाशवान् पदार्थोंकी इच्छा पैदा नहीं होती।

यह बात खास ध्यान देनेकी है कि केवल इच्छा करनेसे शरीर-निर्वाहके पदार्थ मिलते हों तथा इच्छा न करनेसे न मिलते हों—ऐसा कोई नियम नहीं है। वास्तवमें शरीर-निर्वाहकी आवश्यक सामग्री स्वत: प्राप्त होती है; क्योंकि जीवमात्रके शरीर-निर्वाहकी आवश्यक सामग्रीका प्रबन्ध भगवान्की ओरसे पहले ही हुआ रहता है। इच्छा करनेसे तो आवश्यक वस्तुओंकी प्राप्तिमें बाधा ही आती है। अगर मनुष्य किसी वस्तुको अपने लिये अत्यन्त आवश्यक समझकर 'वह वस्तु कैसे मिले? कहाँ मिले? कब मिले?'—ऐसी प्रबल इच्छाको अपने अन्त:करणमें पकड़े रहता है, तो उसकी उस इच्छाका विस्तार नहीं हो पाता

अर्थात् उसकी वह इच्छा दूसरे लोगोंके अन्त:करणतक नहीं पहुँच पाती। इस कारण दूसरे लोगोंके अन्त:करणमें उस आवश्यक वस्तुको देनेकी इच्छा या प्रेरणा नहीं होती। प्राय: देखा जाता है कि लेनेकी प्रबल इच्छा रखनेवाले-(चोर आदि) को कोई देना नहीं चाहता। इसके विपरीत किसी वस्तुकी इच्छा न रखनेवाले विरक्त त्यागी और बालककी आवश्यकताओंका अनुभव अपने-आप दूसरोंको होता है, और दूसरे उनके शरीर-निर्वाहका अपने-आप प्रसन्नतापूर्वक प्रबन्ध करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि इच्छा न करनेसे जीवन-निर्वाहकी आवश्यक वस्तुएँ बिना माँगे स्वत: मिलती हैं। अत: वस्तुओंकी इच्छा करना केवल मूर्खता और अकारण दु:ख पाना ही है। सिद्ध भक्तको तो अपने कहे जानेवाले शरीरकी भी अपेक्षा नहीं होती; इसलिये वह सर्वथा निरपेक्ष होता है।

किसी-किसी भक्तको तो इसकी भी अपेक्षा नहीं होती कि भगवान् दर्शन दें! भगवान् दर्शन दें तो आनन्द, न दें तो आनन्द! वह तो सदा भगवान्की प्रसन्नता और कृपाको देखकर मस्त रहता है। ऐसे निरपेक्ष भक्तके पीछे-पीछे भगवान् भी घूमा करते हैं! भगवान् स्वयं कहते हैं—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभि:॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

'जो निरपेक्ष (किसीकी अपेक्षा न रखनेवाला), निरन्तर मेरा मनन करनेवाला, शान्त, द्वेषरहित और सबके प्रति समान दृष्टि रखनेवाला है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं सदा यह सोचकर घूमा करता हूँ कि उसकी चरण-रज मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

किसी वस्तुकी इच्छाको लेकर भगवान्की भक्ति करनेवाला मनुष्य वस्तुत: उस इच्छित वस्तुका ही भक्त होता है; क्योंकि (वस्तुकी ओर लक्ष्य रहनेसे) वह वस्तुके लिये ही भगवान्की भक्ति करता है, न कि भगवान्के लिये। परन्तु भगवान्की यह उदारता है कि उसको भी अपना भक्त मानते हैं (गीता—सातवें अध्यायका सोलहवाँ श्लोक); क्योंकि वह इच्छित वस्तुके लिये किसी दूसरेपर भरोसा न रखकर अर्थात् केवल भगवान्पर भरोसा रखकर ही भजन करता है। इतना ही नहीं, भगवान् भक्त ध्रुवकी तरह उस (अर्थार्थी भक्त)-की इच्छा पूरी करके उसको सर्वथा नि:स्पृह भी बना देते हैं।

'शुचि:'—शरीरमें अहंता-ममता (मैं-मेरापन) न रहनेसे भक्तका शरीर अत्यन्त पवित्र होता है। अन्त:करणमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोधादि विकारोंके न रहनेसे उसका अन्त:करण भी अत्यन्त पवित्र होता है। ऐसे (बाहर-भीतरसे अत्यन्त पवित्र) भक्तके दर्शन, स्पर्श, वार्तालाप और चिन्तनसे दूसरे लोग भी पवित्र हो जाते हैं। तीर्थ सब लोगोंको पवित्र करते हैं; किन्तु ऐसे भक्त तीर्थोंको भी तीर्थत्व प्रदान करते हैं अर्थात् तीर्थ भी उनके चरण-स्पर्शसे पवित्र हो जाते हैं (पर भक्तोंके मनमें ऐसा अहंकार नहीं होता)। ऐसे भक्त अपने हृदयमें विराजित **'पवित्राणां पवित्रम्'** (पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले) भगवान्के प्रभावसे तीर्थोंको भी महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं—

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्त:स्थेन गदाभृता॥

(श्रीमद्भा० १। १३। १०)

महाराज भगीरथ गंगाजीसे कहते हैं—

साधवो न्यासिन: शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावना:।
हरन्त्यघं तेऽङ्गसंगात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरि:॥

(श्रीमद्भा० ९। ९। ६)

'माता! जिन्होंने लोक-परलोककी समस्त कामनाओंका त्याग कर दिया है, जो संसारसे उपरत होकर अपने-आपमें शान्त हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ और लोकोंको पवित्र करनेवाले परोपकारी साधु पुरुष हैं, वे अपने अंगस्पर्शसे तुम्हारे (पापियोंके अंग-स्पर्शसे आये) समस्त पापोंको नष्ट कर देंगे; क्योंकि उनके हृदयमें समस्त पापोंका नाश करनेवाले भगवान् सर्वदा निवास करते हैं।'

'दक्ष:'—जिसने करनेयोग्य काम कर लिया है, वही दक्ष है। मानव-जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है। इसीके लिये मनुष्य-शरीर मिला है। अत: जिसने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया अर्थात् भगवान्को प्राप्त कर लिया, वही वास्तवमें दक्ष अर्थात् चतुर है। भगवान् कहते हैं—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। २२)

'विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी एवं सत्य तत्त्वको प्राप्त कर लें।'

सांसारिक दक्षता (चतुराई) वास्तवमें दक्षता नहीं है। एक दृष्टिसे तो व्यवहारमें अधिक दक्षता होना कलंक ही है; क्योंकि इससे अन्त:करणमें जड पदार्थोंका आदर बढ़ता है,

जो मनुष्यके पतनका कारण होता है।

सिद्ध भक्तमें व्यावहारिक (सांसारिक) दक्षता भी होती है। परन्तु व्यावहारिक दक्षताको पारमार्थिक स्थितिकी कसौटी मानना वस्तुत: सिद्ध भक्तका अपमान ही करना है।

'उदासीन:'—उदासीन शब्दका अर्थ है—उत्+आसीन अर्थात् ऊपर बैठा हुआ, तटस्थ, पक्षपातसे रहित।

विवाद करनेवाले दो व्यक्तियोंके प्रति जिसका सर्वथा तटस्थ भाव रहता है, उसको उदासीन कहा जाता है। उदासीन शब्द निर्लिप्तताका द्योतक है। जैसे ऊँचे पर्वतपर खड़े हुए पुरुषपर नीचे पृथ्वीपर लगी हुई आग या बाढ़ आदिका कोई असर नहीं पड़ता, ऐसे ही किसी भी अवस्था, घटना, परिस्थिति आदिका भक्तपर कोई असर नहीं पड़ता, वह सदा निर्लिप्त रहता है।

जो मनुष्य भक्तका हित चाहता है तथा उसके अनुकूल आचरण करता है, वह उसका मित्र समझा जाता है और जो मनुष्य भक्तका अहित चाहता है तथा उसके प्रतिकूल आचरण करता है, वह उसका शत्रु समझा जाता है। इस प्रकार मित्र और शत्रु समझे जानेवाले व्यक्तिके साथ भक्तके बाहरी व्यवहारमें फरक मालूम दे सकता है; परन्तु भक्तके अन्त:करणमें दोनों मनुष्योंके प्रति किंचिन्मात्र भी भेदभाव नहीं होता। वह दोनों स्थितियोंमें सर्वथा उदासीन अर्थात् निर्लिप्त रहता है।

भक्तके अन्त:करणमें अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती। वह शरीरसहित सम्पूर्ण संसारको परमात्माका ही मानता है। इसलिये उसका व्यवहार पक्षपातसे रहित होता है।

'गतव्यथ:'—कुछ मिले या न मिले, कुछ भी आये या चला जाय, जिसके चित्तमें दु:ख-चिन्ता-शोकरूप हलचल कभी होती ही नहीं, उस भक्तको यहाँ **'गतव्यथ:'** कहा गया है।

यहाँ 'व्यथा' शब्द केवल दु:खका वाचक नहीं है। अनुकूलताकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें प्रसन्नता तथा प्रतिकूलताकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें खिन्नताकी जो हलचल होती है, वह भी 'व्यथा' ही है। अत: अनुकूलता तथा प्रतिकूलतासे अन्त:करणमें होनेवाले राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंके सर्वथा अभावको ही यहाँ **'गतव्यथ:'** पदसे कहा गया है।

'सर्वारम्भपरित्यागी'—भोग और संग्रहके उद्देश्यसे नये-नये कर्म करनेको 'आरम्भ' कहते हैं; जैसे—सुखभोगके उद्देश्यसे घरमें नयी-नयी चीजें इकट्ठी करना, वस्त्र खरीदना; रुपये बढ़ानेके उद्देश्यसे नयी-नयी दूकानें खोलना, नया व्यापार शुरू करना आदि। भक्त भोग और संग्रहके लिये किये जानेवाले मात्र कर्मोंका सर्वथा त्यागी होता है*।

जिसका उद्देश्य संसारका है और जो वर्ण, आश्रम, विद्या, बुद्धि, योग्यता, पद, अधिकार आदिको लेकर अपनेमें विशेषता देखता है, वह भक्त नहीं होता। भक्त भगवन्निष्ठ होता है। अत: उसके कहलानेवाले शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, क्रिया, फल आदि सब भगवान्के अर्पित होते हैं। वास्तवमें इन शरीरादिके मालिक भगवान् ही हैं। प्रकृति और प्रकृतिका कार्यमात्र भगवान्का है। अत: भक्त एक भगवान्के सिवाय किसीको भी अपना नहीं मानता। वह अपने लिये कभी कुछ नहीं करता। उसके द्वारा होनेवाले मात्र कर्म भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही होते हैं। धन-सम्पत्ति, सुख-आराम, मान-बड़ाई आदिके लिये किये जानेवाले कर्म उसके द्वारा कभी होते ही नहीं।

जिसके भीतर परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिकी ही सच्ची लगन लगी है, वह साधक चाहे किसी भी मार्गका क्यों न हो, भोग भोगने और संग्रह करनेके उद्देश्यसे वह कभी कोई नया कर्म आरम्भ नहीं करता।

'यो मद्भक्त: स मे प्रिय:'—भगवान्में स्वाभाविक ही इतना महान् आकर्षण है कि भक्त स्वत: उनकी ओर खिंच जाता है, उनका प्रेमी हो जाता है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरि:॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चित्-जड-ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्की हेतुरहित (निष्काम) भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।'

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अगर भगवान्में इतना महान् आकर्षण है, तो सभी मनुष्य भगवान्की ओर क्यों नहीं खिंच जाते, उनके प्रेमी क्यों नहीं हो जाते?

वास्तवमें देखा जाय तो जीव भगवान्का ही अंश है। अत: उसका भगवान्की ओर स्वत:-स्वाभाविक आकर्षण होता है। परन्तु जो भगवान् वास्तवमें अपने हैं, उनको तो

* **अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥ (मानस ७।४६।३)**

मनुष्यने अपना माना नहीं और जो मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ-शरीर-कुटुम्बादि अपने नहीं हैं, उनको उसने अपना मान लिया। इसीलिये वह शारीरिक निर्वाह और सुखकी कामनासे सांसारिक भोगोंकी ओर आकृष्ट हो गया तथा अपने अंशी भगवान्‌से दूर (विमुख) हो गया। फिर भी उसकी यह दूरी वास्तविक नहीं माननी चाहिये। कारण कि नाशवान् भोगोंकी ओर आकृष्ट होनेसे उसकी भगवान्‌से दूरी दिखायी तो देती है, पर वास्तवमें दूरी है नहीं; क्योंकि उन भोगोंमें भी तो सर्वव्यापी भगवान् परिपूर्ण हैं। परन्तु इन्द्रियोंके विषयोंमें अर्थात् भोगोंमें ही आसक्ति होनेके कारण उसको उनमें छिपे भगवान् दिखायी नहीं देते। जब इन नाशवान् भोगोंकी ओर उसका आकर्षण नहीं रहता, तब वह स्वतः ही भगवान्‌की ओर खिंच जाता है। संसारमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति न रहनेसे भक्तका एकमात्र भगवान्‌में स्वतः प्रेम होता है। ऐसे अनन्यप्रेमी भक्तको भगवान् '**मद्भक्तः**' कहते हैं।

जिस भक्तका भगवान्‌में अनन्य प्रेम है, वह भगवान्‌को प्रिय होता है।

परिशिष्ट भाव—'अनपेक्षः'—अमुक वस्तु आदि न हो तो काम कैसे चलेगा—यह अपेक्षा भक्तमें नहीं होती। भक्तकी दृष्टिमें सब कुछ भगवान्-ही-भगवान् हैं, फिर वह किसकी अपेक्षा रखे? '**शुचिः**'—भक्तका दर्शन, स्पर्श, भाषण दूसरोंको शुद्ध करनेवाला होता है। उसके शरीरका स्पर्श करनेवाली हवा भी शुद्ध होती है! यद्यपि ऐसी शुद्धि ज्ञानयोगी महापुरुषमें भी होती है, तथापि भक्तमें शुरूसे ही सबकी हितैषिता (**मैत्रः करुण एव च**) विशेषरूपसे रहनेके कारण उसमें विशेष शुद्धि होती है। '**दक्षः**'—भक्तने करनेयोग्य काम कर लिया अर्थात् वह कृतकृत्य, ज्ञात-ज्ञातव्य और प्राप्त-प्राप्तव्य हो गया, इसलिये वह 'दक्ष' है।

'**सर्वारम्भपरित्यागी**'—यह पद चौदहवें अध्यायके पचीसवें श्लोकमें गुणातीत महापुरुषके लिये भी आया है—'**सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते**'। गुणातीत महापुरुषमें कर्तृत्व न होनेसे वह सर्वारम्भपरित्यागी होता है और भक्तमें स्वार्थ तथा अभिमान न होनेसे वह सर्वारम्भपरित्यागी होता है। भक्तको अपने लिये कुछ करना शेष है ही नहीं, फिर वह आरम्भ क्या करे? उसके द्वारा आरम्भ तो हो सकता है, पर उसमें उसको कोई लगाव, आसक्ति, प्रयोजन, आग्रह नहीं रहता, आरम्भ हो जाय तो ठीक, न हो तो ठीक! वह दोनोंमें सम रहता है।

सम्बन्ध—सिद्ध भक्तके पाँच लक्षणोंवाला चौथा प्रकरण आगेके श्लोकमें आया है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥ १७॥

यः	=जो	**न**	=न		(राग-द्वेषरहित) है,
न	=न (कभी)	**काङ्क्षति**	=कामना करता है (और)	**सः**	=वह
हृष्यति	=हर्षित होता है,				
न	=न	**यः**	=जो	**भक्तिमान्**	=भक्तिमान् मनुष्य
द्वेष्टि	=द्वेष करता है,	**शुभाशुभ-परित्यागी**	=शुभ-अशुभ कर्मोंसे ऊँचा उठा हुआ	**मे**	=मुझे
न	=न				
शोचति	=शोक करता है,			**प्रियः**	=प्रिय है।

व्याख्या—'**यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति**'—मुख्य विकार चार हैं—(१) राग, (२) द्वेष, (३) हर्ष और (४) शोक*। सिद्ध भक्तमें ये चारों ही विकार नहीं होते। उसका यह अनुभव होता है कि संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है और भगवान्‌से कभी वियोग होता ही नहीं। संसारके साथ कभी संयोग था नहीं, है नहीं, रहेगा नहीं और रह सकता भी नहीं। अतः संसारकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—इस वास्तविकताका अनुभव

* प्रचलित भाषामें किसीकी मृत्युसे मनमें होनेवाली व्यथाके लिये 'शोक' शब्दका प्रयोग किया जाता है; परन्तु यहाँ 'शोक' शब्दका तात्पर्य अन्तःकरणके दुःखरूप 'विकार' से है।

कर लेनेके बाद (जडताका कोई सम्बन्ध न रहनेपर) भक्तका केवल भगवान्‌के साथ अपने नित्यसिद्ध सम्बन्धका अनुभव अटलरूपसे रहता है। इस कारण उसका अन्त:करण राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त होता है। भगवान्‌का साक्षात्कार होनेपर ये विकार सर्वथा मिट जाते हैं।

साधनावस्थामें भी साधक ज्यों-ज्यों साधनमें आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसमें राग-द्वेषादि कम होते चले जाते हैं। जो कम होनेवाला होता है, वह मिटनेवाला भी होता है। अत: जब साधनावस्थामें ही विकार कम होने लगते हैं, तब सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिद्धावस्थामें भक्तमें ये विकार नहीं रहते, पूर्णतया मिट जाते हैं।

हर्ष और शोक—दोनों राग-द्वेषके ही परिणाम हैं। जिसके प्रति राग होता है, उसके संयोगसे और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके वियोगसे 'हर्ष' होता है। इसके विपरीत जिसके प्रति राग होता है, उसके वियोग या वियोगकी आशंकासे और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके संयोग या संयोगकी आशंकासे 'शोक' होता है। सिद्ध भक्तमें राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव होनेसे स्वत: एक साम्यावस्था निरन्तर रहती है। इसलिये वह विकारोंसे सर्वथा रहित होता है।

जैसे रात्रिके समय अन्धकारमें दीपक जलानेकी कामना होती है; दीपक जलानेसे हर्ष होता है, दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध होता है और पुन: दीपक कैसे जले—ऐसी चिन्ता होती है। रात्रि होनेसे ये चारों बातें होती हैं। परन्तु मध्याह्नका सूर्य तपता हो तो दीपक जलानेकी कामना नहीं होती, दीपक जलानेसे हर्ष नहीं होता, दीपक बुझानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध नहीं होता और (अँधेरा न होनेसे) प्रकाशके अभावकी चिन्ता भी नहीं होती। इसी प्रकार भगवान्‌से विमुख और संसारके सम्मुख होनेसे शरीर-निर्वाह और सुखके लिये अनुकूल पदार्थ, परिस्थिति आदिके मिलनेकी कामना होती है; इनके मिलनेपर हर्ष होता है; इनकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचानेवालेके प्रति द्वेष या क्रोध होता है और इनके न मिलनेपर 'कैसे मिलें' ऐसी चिन्ता होती है। परन्तु जिसको (मध्याह्नके सूर्यकी तरह) भगवत्प्राप्ति हो गयी है, उसमें ये विकार कभी नहीं रहते। वह पूर्णकाम हो जाता है। अत: उसको संसारकी कोई आवश्यकता नहीं रहती।

'शुभाशुभपरित्यागी'—ममता, आसक्ति और फलेच्छासे रहित होकर ही शुभ कर्म करनेके कारण भक्तके कर्म 'अकर्म' हो जाते हैं। इसलिये भक्तको शुभ कर्मोंका भी त्यागी कहा गया है। राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होनेके कारण उससे अशुभ कर्म होते ही नहीं। अशुभ कर्मोंके होनेमें कामना, ममता, आसक्ति ही प्रधान कारण हैं और भक्तमें इनका सर्वथा अभाव होता है। इसलिये उसको अशुभ कर्मोंका भी त्यागी कहा गया है।

भक्त शुभ कर्मोंसे तो राग नहीं करता और अशुभ कर्मोंसे द्वेष नहीं करता। उसके द्वारा स्वाभाविक शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका आचरण और अशुभ (निषिद्ध एवं काम्य) कर्मोंका त्याग होता है, राग-द्वेषपूर्वक नहीं। राग-द्वेषका सर्वथा त्याग करनेवाला ही सच्चा त्यागी है।

मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते, प्रत्युत कर्मोंमें राग-द्वेष ही बाँधते हैं। भक्तके सम्पूर्ण कर्म राग-द्वेषरहित होते हैं, इसलिये वह शुभाशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका परित्यागी है।

'शुभाशुभपरित्यागी' पदका अर्थ शुभ और अशुभ कर्मोंके फलका त्यागी भी लिया जा सकता है। परन्तु इसी श्लोकके पूर्वार्धमें आये **'न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति'** पदोंका सम्बन्ध भी शुभ (अनुकूल) और अशुभ (प्रतिकूल) कर्मफलके त्यागसे ही है। अत: यहाँ **'शुभाशुभपरित्यागी'** पदका अर्थ शुभाशुभ कर्मफलका त्यागी माननेसे पुनरुक्ति-दोष आता है। इसलिये इस पदका अर्थ शुभ एवं अशुभ कर्मोंमें राग-द्वेषका त्यागी ही मानना चाहिये।

'भक्तिमान्यः स मे प्रियः'—भक्तकी भगवान्‌में अत्यधिक प्रियता रहती है। उसके द्वारा स्वत:-स्वाभाविक भगवान्‌का चिन्तन, स्मरण, भजन होता रहता है। ऐसे भक्तको यहाँ **'भक्तिमान्'** कहा गया है।

भक्तका भगवान्‌में अनन्य प्रेम होता है, इसलिये वह भगवान्‌को प्रिय होता है।

परिशिष्ट भाव—हर्ष (**हृष्यति**) और शोक (**शोचति**), राग (**काङ्क्षति**) और द्वेष (**द्वेष्टि**)—ये द्वन्द्व हैं। भक्तमें कोई द्वन्द्व नहीं रहता, वह निर्द्वन्द्व हो जाता है। नारदभक्तिसूत्रमें भी आया है—

यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ ५॥

'जिस भक्तिके प्राप्त होनेपर भक्त न तो किसी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे किसी वस्तुकी प्राप्तिमें उत्साह (हर्ष) होता है।'

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें सिद्ध भक्तके दस लक्षणोंवाला पाँचवाँ और अन्तिम प्रकरण कहते हैं।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥ १८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥ १९॥

शत्रौ	=(जो) शत्रु
च	=और
मित्रे	=मित्रमें
तथा	=तथा
मानापमानयोः	=मान-अपमानमें
समः	=सम है (और)
शीतोष्ण-सुखदुःखेषु	=शीत-उष्ण (शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता) तथा सुख-दुःख-(मन-बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलता-) में
समः	=सम है
च	=एवं
सङ्गविवर्जितः	=आसक्तिरहित है (और)
तुल्यनिन्दा-स्तुतिः	=जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला,
मौनी	=मननशील,
येन	=जिस
केनचित्	=किसी प्रकारसे भी (शरीरका निर्वाह होने-न-होनेमें)
सन्तुष्टः	=सन्तुष्ट
अनिकेतः	=रहनेके स्थान तथा शरीरमें ममता-आसक्तिसे रहित (और)
स्थिरमतिः	=स्थिर बुद्धिवाला है,
भक्तिमान्	=(वह) भक्तिमान्
नरः	=मनुष्य
मे	=मुझे
प्रियः	=प्रिय है।

व्याख्या—‘**समः शत्रौ च मित्रे च** ’—यहाँ भगवान्‌ने भक्तमें व्यक्तियोंके प्रति होनेवाली समताका वर्णन किया है। सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि होने तथा राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण सिद्ध भक्तका किसीके भी प्रति शत्रु-मित्रका भाव नहीं रहता। लोग ही उसके व्यवहारमें अपने स्वभावके अनुसार अनुकूलता या प्रतिकूलताको देखकर उसमें मित्रता या शत्रुताका आरोप कर लेते हैं। साधारण लोगोंका तो कहना ही क्या है, सावधान रहनेवाले साधकोंका भी उस सिद्ध भक्तके प्रति मित्रता और शत्रुताका भाव हो सकता है। परंतु भक्त अपने-आपमें सदैव पूर्णतया सम रहता है। उसके हृदयमें कभी किसीके प्रति शत्रु-मित्रका भाव उत्पन्न नहीं होता।

मान लिया जाय कि भक्तके प्रति शत्रुता और मित्रताका भाव रखनेवाले दो व्यक्तियोंमें धनके बँटवारेसे सम्बन्धित कोई विवाद हो जाय और उसका निर्णय करानेके लिये वे भक्तके पास जायँ, तो भक्त धनका बँटवारा करते समय शत्रु-भाववाले व्यक्तिको कुछ अधिक और मित्र-भाववाले व्यक्तिको कुछ कम धन देगा। यद्यपि भक्तके इस निर्णय- (व्यवहार-) में विषमता दीखती है, तथापि शत्रु-भाववाले व्यक्तिको इस निर्णयमें समता दिखायी देगी कि इसने पक्षपातरहित बँटवारा किया है। अतः भक्तके इस निर्णयमें विषमता (पक्षपात) दीखनेपर भी वास्तवमें यह (समताको उत्पन्न करनेवाला होनेसे) समता ही कहलायेगी।

उपर्युक्त पदोंसे यह भी सिद्ध होता है कि सिद्ध भक्तके साथ भी लोग (अपने भावके अनुसार) शत्रुता-मित्रताका व्यवहार करते हैं और उसके व्यवहारसे अपनेको उसका शत्रु-मित्र मान लेते हैं। इसीलिये उसे यहाँ शत्रु-मित्रसे रहित न कहकर ‘शत्रु-मित्रमें सम’ कहा गया है।

‘**तथा मानापमानयोः** ’—मान-अपमान परकृत क्रिया है, जो शरीरके प्रति होती है। भक्तकी अपने कहलानेवाले शरीरमें न तो अहंता होती है, न ममता। इसलिये शरीरका मान-अपमान होनेपर भी भक्तके अन्तःकरणमें कोई विकार (हर्ष-शोक) पैदा नहीं होता। वह नित्य-निरन्तर समतामें स्थित रहता है।

‘**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः** ’—इन पदोंमें दो स्थानों-पर सिद्ध भक्तकी समता बतायी गयी है—

(१) शीत-उष्णमें समता अर्थात् इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंसे संयोग होनेपर अन्तःकरणमें कोई विकार न होना।

(२) सुख-दुःखमें समता अर्थात् धनादि पदार्थोंकी प्राप्ति या अप्राप्ति होनेपर अन्तःकरणमें कोई विकार न होना।

'शीतोष्ण' शब्दका अर्थ 'सरदी-गरमी' होता है। सरदी-गरमी त्वगिन्द्रियके विषय हैं। भक्त केवल त्वगिन्द्रियके विषयोंमें ही सम रहता हो, ऐसी बात नहीं है। वह तो समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें सम रहता है। अतः यहाँ 'शीतोष्ण' शब्द समस्त इन्द्रियोंके विषयोंका वाचक है। प्रत्येक इन्द्रियका अपने-अपने विषयके साथ संयोग होनेपर भक्तको उन (अनुकूल या प्रतिकूल) विषयोंका ज्ञान तो होता है, पर उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि विकार नहीं होते। वह सदा सम रहता है।

साधारण मनुष्य धनादि अनुकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें सुख तथा प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिमें दुःखका अनुभव करते हैं। परन्तु उन्हीं पदार्थोंके प्राप्त होने अथवा न होनेपर सिद्ध भक्तके अन्तःकरणमें कभी किंचिन्मात्र भी राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकार नहीं होते। वह प्रत्येक परिस्थितिमें सम रहता है।

'सुख-दुःखमें सम' रहने तथा 'सुख-दुःखसे रहित' होने—दोनोंका गीतामें एक ही अर्थमें प्रयोग हुआ है। सुख-दुःखकी परिस्थिति अवश्यम्भावी है; अतः उससे रहित होना सम्भव नहीं है। इसलिये भक्त अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितियोंमें सम रहता है। हाँ, अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितिको लेकर अन्तःकरणमें जो हर्ष-शोक होते हैं, उनसे रहित हुआ जा सकता है। इस दृष्टिसे गीतामें जहाँ 'सुख-दुःखमें सम' होनेकी बात आयी है, वहाँ सुख-दुःखकी परिस्थितिमें सम समझना चाहिये और जहाँ 'सुख-दुःखसे रहित' होनेकी बात आयी है, वहाँ (अनुकूल तथा प्रतिकूल परिस्थितिकी प्राप्तिसे होनेवाले) हर्ष-शोकसे रहित समझना चाहिये।

'संगविवर्जितः'—'संग' शब्दका अर्थ सम्बन्ध (संयोग) तथा आसक्ति दोनों ही होते हैं। मनुष्यके लिये यह सम्भव नहीं है कि वह स्वरूपसे सब पदार्थोंका संग अर्थात् सम्बन्ध छोड़ सके; क्योंकि जबतक मनुष्य जीवित रहता है, तबतक शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ उसके साथ रहती ही हैं। हाँ, शरीरसे भिन्न कुछ पदार्थोंका त्याग स्वरूपसे किया जा सकता है। जैसे किसी व्यक्तिने स्वरूपसे प्राणी-पदार्थोंका संग छोड़ दिया, पर उसके अन्तःकरणमें अगर उनके प्रति किंचिन्मात्र भी आसक्ति बनी हुई है, तो उन प्राणी-पदार्थोंसे दूर होते हुए भी वास्तवमें उसका उनसे सम्बन्ध बना हुआ ही है। दूसरी ओर, अगर अन्तःकरणमें प्राणी-पदार्थोंकी किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं है, तो पास रहते हुए भी वास्तवमें उनसे सम्बन्ध नहीं है। अगर पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करनेपर ही मुक्ति होती, तो मरनेवाला हरेक व्यक्ति मुक्त हो जाता; क्योंकि उसने तो अपने शरीरका भी त्याग कर दिया! परन्तु ऐसी बात है नहीं। अन्तःकरणमें आसक्तिके रहते हुए शरीरका त्याग करनेपर भी संसारका बन्धन बना रहता है। अतः मनुष्यको सांसारिक आसक्ति ही बाँधनेवाली है, न कि सांसारिक प्राणी-पदार्थोंका स्वरूपसे सम्बन्ध।

आसक्तिको मिटानेके लिये पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग करना भी एक साधन हो सकता है; किंतु खास जरूरत आसक्तिका सर्वथा त्याग करनेकी ही है। संसारके प्रति यदि किंचिन्मात्र भी आसक्ति है, तो उसका चिन्तन अवश्य होगा। इस कारण वह आसक्ति साधकको क्रमशः कामना, क्रोध, मूढ़ता आदिको प्राप्त कराती हुई उसे पतनके गर्तमें गिरानेका हेतु बन सकती है (गीता—दूसरे अध्यायका बासठवाँ-तिरसठवाँ श्लोक)।

भगवान्ने दूसरे अध्यायके उनसठवें श्लोकमें **'परं दृष्ट्वा निवर्तते'** पदोंसे भगवत्प्राप्तिके बाद आसक्तिकी सर्वथा निवृत्तिकी बात कही है। भगवत्प्राप्तिसे पहले भी आसक्तिकी निवृत्ति हो सकती है, पर भगवत्प्राप्तिके बाद तो आसक्ति सर्वथा निवृत्त हो ही जाती है। भगवत्प्राप्त महापुरुषमें आसक्तिका सर्वथा अभाव होता ही है। परन्तु भगवत्प्राप्तिसे पूर्व साधनावस्थामें आसक्तिका सर्वथा अभाव होता ही नहीं—ऐसा नियम नहीं है। साधनावस्थामें भी आसक्तिका सर्वथा अभाव होकर साधकको तत्काल भगवत्प्राप्ति हो सकती है (गीता—पाँचवें अध्यायका इक्कीसवाँ और सोलहवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

आसक्ति न तो परमात्माके अंश शुद्ध चेतनमें रहती है और न जड-(प्रकृति-)में ही। वह जड और चेतनके सम्बन्धरूप 'मैं'-पनकी मान्यतामें रहती है। वही आसक्ति बुद्धि, मन, इन्द्रियों और विषयों-(पदार्थों-) में प्रतीत होती है। अगर साधकके 'मैं'-पनकी मान्यतामें रहनेवाली आसक्ति मिट जाय, तो दूसरी जगह प्रतीत होनेवाली आसक्ति स्वतः मिट जायगी। आसक्तिका कारण अविवेक है। अपने विवेकको पूर्णतया महत्त्व न देनेसे साधकमें आसक्ति रहती है। भक्तमें अविवेक नहीं रहता। इसलिये

वह आसक्तिसे सर्वथा रहित होता है।

अपने अंशी भगवान्‌से विमुख होकर भूलसे संसारको अपना मान लेनेसे संसारमें राग हो जाता है और राग होनेसे संसारमें आसक्ति हो जाती है। संसारसे माना हुआ अपनापन सर्वथा मिट जानेसे बुद्धि सम हो जाती है। बुद्धिके सम होनेपर स्वयं आसक्ति रहित हो जाता है।

मार्मिक बात

वास्तवमें जीवमात्रकी भगवान्‌के प्रति स्वाभाविक अनुरक्ति (प्रेम) है। जबतक संसारके साथ भूलसे माना हुआ अपनेपनका सम्बन्ध है, तबतक वह अनुरक्ति प्रकट नहीं होती, प्रत्युत संसारमें आसक्तिके रूपमें प्रतीत होती है। संसारकी आसक्ति रहते हुए भी वस्तुतः भगवान्‌की अनुरक्ति मिटती नहीं। अनुरक्तिके प्रकट होते ही आसक्ति (सूर्यका उदय होनेपर अंधकारकी तरह) सर्वथा निवृत्त हो जाती है। ज्यों-ज्यों संसारसे विरक्ति होती है, त्यों-ही-त्यों भगवान्‌में अनुरक्ति प्रकट होती है। यह नियम है कि आसक्तिको समाप्त करके विरक्ति स्वयं भी उसी प्रकार शान्त हो जाती है, जिस प्रकार लकड़ीको जलाकर अग्नि। इस प्रकार आसक्ति और विरक्तिके न रहनेपर स्वतः-स्वाभाविक अनुरक्ति-(भगवत्प्रेम-) का स्रोत प्रवाहित होने लगता है। इसके लिये किंचिन्मात्र भी कोई उद्योग नहीं करना पड़ता। फिर भक्त सब प्रकारसे भगवान्‌के पूर्ण समर्पित हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवान्‌की प्रियताके लिये ही होती हैं। उससे प्रसन्न होकर भगवान् उस भक्तको अपना प्रेम प्रदान करते हैं। भक्त उस प्रेमको भी भगवान्‌के ही प्रति लगा देता है। इससे भगवान् और आनन्दित होते हैं तथा पुनः उसे प्रेम प्रदान करते हैं। भक्त पुनः उसे भगवान्‌के प्रति लगा देता है। इस प्रकार भक्त और भगवान्‌के बीच प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमके आदान-प्रदानकी यह लीला चलती रहती है।

'**तुल्यनिन्दास्तुतिः**'—निन्दा-स्तुति मुख्यतः नामकी होती है। यह भी परकृत क्रिया है। लोग अपने स्वभावके अनुसार भक्तकी निन्दा या स्तुति किया करते हैं। भक्तमें अपने कहलानेवाले नाम और शरीरमें लेशमात्र भी अहंता और ममता नहीं होती। इसलिये निन्दा-स्तुतिका उसपर लेशमात्र भी असर नहीं पड़ता। भक्तका न तो अपनी स्तुति या प्रशंसा करनेवालेके प्रति राग होता है और न निन्दा करनेवालेके प्रति द्वेष ही होता है। उसकी दोनोंमें ही समबुद्धि रहती है।

साधारण मनुष्योंके भीतर अपनी प्रशंसाकी कामना रहा करती है, इसलिये वे अपनी निन्दा सुनकर दुःखका और स्तुति सुनकर सुखका अनुभव करते हैं। इसके विपरीत (अपनी प्रशंसा न चाहनेवाले) साधक पुरुष निन्दा सुनकर सावधान होते हैं और स्तुति सुनकर लज्जित होते हैं। परन्तु नाममें किंचिन्मात्र भी अपनापन न होनेके कारण सिद्ध भक्त इन दोनों भावोंसे रहित होता है अर्थात् निन्दा-स्तुतिमें सम होता है। हाँ, वह भी कभी-कभी लोकसंग्रहके लिये साधककी तरह (निन्दामें सावधान तथा स्तुतिमें लज्जित होनेका) व्यवहार कर सकता है।

भक्तकी सर्वत्र भगवद्‌बुद्धि होनेके कारण भी उसका निन्दा-स्तुति करनेवालोंमें भेदभाव नहीं होता। ऐसा भेदभाव न रहनेसे ही यह प्रतीत होता है कि वह निन्दा-स्तुतिमें सम है।

भक्तके द्वारा अशुभ कर्म तो हो ही नहीं सकते और शुभ-कर्मोंके होनेमें वह केवल भगवान्‌को हेतु मानता है। फिर भी उसकी कोई निन्दा या स्तुति करे, तो उसके चित्तमें कोई विकार पैदा नहीं होता।

'**मौनी**'—सिद्ध भक्तके द्वारा स्वतः-स्वाभाविक भगवत्स्वरूपका मनन होता रहता है, इसलिये उसको '**मौनी**' अर्थात् मननशील कहा गया है। अन्तःकरणमें आनेवाली प्रत्येक वृत्तिमें उसको '**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९) 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—यही दीखता है। इसलिये उसके द्वारा निरन्तर ही भगवान्‌का मनन होता है।

यहाँ '**मौनी**' पदका अर्थ 'वाणीका मौन रखनेवाला' नहीं माना जा सकता; क्योंकि ऐसा माननेसे वाणीके द्वारा भक्तिका प्रचार करनेवाले भक्त पुरुष भक्त ही नहीं कहलायेंगे। इसके सिवाय अगर वाणीका मौन रखनेमात्रसे भक्त होना सम्भव होता, तो भक्त होना बहुत ही आसान हो जाता और ऐसे भक्त असंख्य बन जाते; किंतु संसारमें भक्तोंकी संख्या अधिक देखनेमें नहीं आती। इसके सिवाय आसुर स्वभाववाला दम्भी व्यक्ति भी हठपूर्वक वाणीका मौन रख सकता है। परन्तु यहाँ भगवत्प्राप्त सिद्ध भक्तके लक्षण बताये जा रहे हैं। इसलिये यहाँ '**मौनी**' पदका अर्थ 'भगवत्स्वरूपका मनन करनेवाला' ही मानना युक्तिसंगत है।

'**सन्तुष्टो येन केनचित्**'—दूसरे लोगोंको भक्त '**सन्तुष्टो येन केनचित्**' अर्थात् प्रारब्धानुसार शरीर-निर्वाहके लिये जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतुष्ट दीखता है; परन्तु वास्तवमें भक्तकी संतुष्टिका कारण कोई सांसारिक पदार्थ, परिस्थिति आदि नहीं होती। एकमात्र

भगवान्‌में ही प्रेम होनेके कारण वह नित्य-निरन्तर भगवान्‌में ही संतुष्ट रहता है। इस संतुष्टिके कारण वह संसारकी प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिमें सम रहता है; क्योंकि उसके अनुभवमें प्रत्येक अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति भगवान्‌के मंगलमय विधानसे ही आती है। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थितिमें नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहनेके कारण उसे '**सन्तुष्टो येन केनचित्**' कहा गया है।

'**अनिकेतः**'—जिनका कोई निकेत अर्थात् वास-स्थान नहीं है, वे ही 'अनिकेत' हों—ऐसी बात नहीं है। चाहे गृहस्थ हों या साधु-संन्यासी, जिनकी अपने रहनेके स्थानमें ममता-आसक्ति नहीं है, वे सभी 'अनिकेत' हैं। भक्तका रहनेके स्थानमें और शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर) में लेशमात्र भी अपनापन एवं आसक्ति नहीं होती। इसलिये उसको '**अनिकेतः**' कहा गया है।

'**स्थिरमतिः**'—भक्तकी बुद्धिमें भगवत्तत्त्वकी सत्ता और स्वरूपके विषयमें कोई संशय अथवा विपर्यय (विपरीत ज्ञान) नहीं होता। अतः उसकी बुद्धि भगवत्तत्त्वके ज्ञानसे कभी किसी अवस्थामें विचलित नहीं होती। इसलिये उसको '**स्थिरमतिः**' कहा गया है। भगवत्तत्त्वको जाननेके लिये उसको कभी किसी प्रमाण या शास्त्र-विचार, स्वाध्याय आदिकी जरूरत नहीं रहती; क्योंकि वह स्वाभाविकरूपसे भगवत्तत्त्वमें तल्लीन रहता है।

स्थिरबुद्धि होनेमें कामनाएँ ही बाधक होती हैं (गीता— दूसरे अध्यायका चौवालीसवाँ श्लोक)। अतः कामनाओंके त्यागसे ही स्थिरबुद्धि होना सम्भव है (गीता—दूसरे अध्यायका पचपनवाँ श्लोक)। अन्तःकरणमें सांसारिक (संयोगजन्य) सुखकी कामना रहनेसे संसारमें आसक्ति हो जाती है। यह आसक्ति संसारको असत्य या मिथ्या जान लेनेपर भी मिटती नहीं; जैसे—सिनेमामें दीखनेवाले दृश्य- (प्राणी-पदार्थों-) को मिथ्या जानते हुए भी उसमें आसक्ति हो जाती है अथवा जैसे भूतकालकी बातोंको याद करते समय मानसिक दृष्टिके सामने आनेवाले दृश्यको मिथ्या जानते हुए भी उसमें आसक्ति हो जाती है। अतः जबतक भीतरमें सांसारिक सुखकी कामना है, तबतक संसारको मिथ्या माननेपर भी संसारकी आसक्ति नहीं मिटती। आसक्तिसे संसारकी स्वतन्त्र सत्ता दृढ़ होती है। सांसारिक सुखकी कामना मिटनेपर आसक्ति स्वतः मिट जाती है। आसक्ति मिटनेपर संसारकी स्वतन्त्र सत्ताका अभाव हो जाता है और एक भगवत्तत्त्वमें बुद्धि स्थिर हो जाती है।

'**भक्तिमान्मे प्रियो नरः**'—'**भक्तिमान्**' पदमें 'भक्ति' शब्दके साथ नित्ययोगके अर्थमें '**मतुप्**' प्रत्यय है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यमें स्वाभाविकरूपसे 'भक्ति' (भगवत्प्रेम) रहती है। मनुष्यसे भूल यही होती है कि वह भगवान्‌को छोड़कर संसारकी भक्ति करने लगता है। इसलिये उसे स्वाभाविक रहनेवाली भगवद्भक्तिका रस नहीं मिलता और उसके जीवनमें नीरसता रहती है। सिद्ध भक्त हरदम भक्ति-रसमें तल्लीन रहता है। इसलिये उसको '**भक्तिमान्**' कहा गया है। ऐसा भक्तिमान् मनुष्य भगवान्‌को प्रिय होता है।

'**नरः**' पद देनेका तात्पर्य है कि भगवान्‌को प्राप्त करके जिसने अपना मनुष्यजीवन सफल (सार्थक) कर लिया है, वही वास्तवमें नर (मनुष्य) कहलानेयोग्य है। जो मनुष्य-शरीरको पाकर सांसारिक भोग और संग्रहमें ही लगा हुआ है, वह नर (मनुष्य) कहलानेयोग्य नहीं है।

[इन दो श्लोकोंमें भक्तके सदा-सर्वदा समभावमें स्थित रहनेकी बात कही गयी है। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख और निन्दा-स्तुति—इन पाँचों द्वन्द्वोंमें समता होनेसे ही साधक पूर्णतः समभावमें स्थित कहा जा सकता है।]

प्रकरण-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्‌ने पहले प्रकरणके अन्तर्गत तेरहवें-चौदहवें श्लोकोंमें सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करके अन्तमें '**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**' कहा, दूसरे प्रकरणके अन्तर्गत पन्द्रहवें श्लोकके अन्तमें '**यः स च मे प्रियः**' कहा, तीसरे प्रकरणके अन्तर्गत सोलहवें श्लोकके अन्तमें '**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**' कहा, चौथे प्रकरणके अन्तर्गत सत्रहवें श्लोकके अन्तमें '**भक्तिमान् यः स मे प्रियः**' कहा और अन्तिम पाँचवें प्रकरणके अन्तर्गत अठारहवें-उन्नीसवें श्लोकोंके अन्तमें '**भक्तिमान् मे प्रियो नरः**' कहा। इस प्रकार भगवान्‌ने पाँच बार अलग-अलग '**मे प्रियः**' पद देकर सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंको पाँच भागोंमें विभक्त किया है। इसलिये सात श्लोकोंमें बताये गये सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंको एक ही प्रकरणके अन्तर्गत नहीं समझना चाहिये। इसका मुख्य कारण यह है कि यदि यह एक ही प्रकरण होता, तो एक लक्षणको बार-बार न कहकर एक ही बार कहा जाता, और '**मे प्रियः**' पद भी एक ही बार कहे जाते।

पाँचों प्रकरणोंके अन्तर्गत सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है। जैसे, पहले प्रकरणमें '**निर्ममः**' पदसे रागका, '**अद्वेष्टा**' पदसे द्वेषका और '**समदुःखसुखः**' पदसे हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है। दूसरे प्रकरणमें '**हर्षामर्षभयोद्वेगैः**' पदसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है। तीसरे प्रकरणमें '**अनपेक्षः**' पदसे रागका, '**उदासीनः**' पदसे द्वेषका और '**गतव्यथः**' पदसे हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है। चौथे प्रकरणमें '**न काङ्‌क्षति**' पदोंसे रागका, '**न द्वेष्टि**' पदोंसे द्वेषका और '**न हृष्यति**' तथा '**न शोचति**' पदोंसे हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है। अन्तिम पाँचवें प्रकरणमें '**संगविवर्जितः**' पदसे रागका, '**सन्तुष्टः**' पदसे एकमात्र भगवान्‌में ही सन्तुष्ट रहनेके कारण द्वेषका और '**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः**' पदोंसे हर्ष-शोकका अभाव बताया गया है।

अगर सिद्ध भक्तोंके लक्षण बतानेवाला (सात श्लोकोंका) एक ही प्रकरण होता, तो सिद्ध भक्तमें राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारोंके अभावकी बात कहीं शब्दोंसे और कहीं भावसे बार-बार कहनेकी जरूरत नहीं होती। इसी तरह चौदहवें और उन्नीसवें श्लोकमें '**सन्तुष्टः**' पदका तथा तेरहवें श्लोकमें '**समदुःखसुखः**' और अठारहवें श्लोकमें '**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः**' पदोंका भी सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें दो बार प्रयोग हुआ है, जिससे (सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका एक ही प्रकरण माननेसे) पुनरुक्तिका दोष आता है। भगवान्‌के वचनोंमें पुनरुक्तिका दोष आना सम्भव ही नहीं। अतः सातों श्लोकोंके विषयको एक प्रकरण न मानकर अलग-अलग पाँच प्रकरण मानना ही युक्तिसंगत है।

इस तरह पाँचों प्रकरण स्वतन्त्र (भिन्न-भिन्न) होनेसे किसी एक प्रकरणके भी सब लक्षण जिसमें हों, वही भगवान्‌का प्रिय भक्त है। प्रत्येक प्रकरणमें सिद्ध भक्तोंके अलग-अलग लक्षण बतानेका कारण यह है कि साधन-पद्धति, प्रारब्ध, वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिके भेदसे सब भक्तोंकी प्रकृति-(स्वभाव-) में परस्पर थोड़ा-बहुत भेद रहा करता है। हाँ, राग-द्वेष, हर्ष-शोकादि विकारोंका अत्यन्ताभाव एवं समतामें स्थिति और समस्त प्राणियोंके हितमें रति सबकी समान ही होती है।

साधकको अपनी रुचि, विश्वास, योग्यता, स्वभाव आदिके अनुसार जो प्रकरण अपने अनुकूल दिखायी दे, उसीको आदर्श मानकर उसके अनुसार अपना जीवन बनानेमें लग जाना चाहिये। किसी एक प्रकरणके भी यदि पूरे लक्षण अपनेमें न आयें, तो भी साधकको निराश नहीं होना चाहिये। फिर सफलता अवश्यम्भावी है।

परिशिष्ट भाव—इन दो श्लोकोंमें भगवान्‌ने वे ही स्थल दिये हैं, जहाँ समता होनेमें कठिनता आती है। अगर इनमें समता हो जाय तो अन्य जगह समता होनेमें कठिनता नहीं आयेगी। अपनेपर कोई असर न पड़ना 'समता' है।

यद्यपि भक्तकी दृष्टिमें भगवान्‌के सिवाय दूसरी सत्ता है ही नहीं, तथापि दूसरे लोगोंकी दृष्टिमें वह शत्रु और मित्रमें सम दीखता है। शत्रुता-मित्रताका ज्ञान होनेपर भी वह सम रहता है।

'**शीतोष्णसुखदुःखेषु**'—भक्त शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें भी सम रहता है और मन-बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें भी सम रहता है। तात्पर्य है कि भक्त शरीरकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, इन्द्रियोंकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, मनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, बुद्धिकी अनुकूलता-प्रतिकूलता, सिद्धान्तकी अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सब तरहकी अनुकूलता-प्रतिकूलतामें सम रहता है। उसका न तो अनुकूलतामें राग होता है और न प्रतिकूलतामें द्वेष होता है।

'**यो मद्भक्तः स मे प्रियः**', '**भक्तिमान्मे प्रियो नरः**' आदि पदोंका तात्पर्य है कि वे भक्तिके कारण भगवान्‌को प्रिय हैं, गुणों-(लक्षणों-)के कारण नहीं। गुण मुख्य नहीं हैं, प्रत्युत भक्ति मुख्य है।

सम्बन्ध—पीछेके सात श्लोकोंमें भगवान्‌ने सिद्ध भक्तोंके कुल उनतालीस लक्षण बताये। अब आगेके श्लोकमें भगवान् अर्जुनके प्रश्नका स्पष्ट रीतिसे उत्तर देते हैं।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥ २०॥

तु	= परन्तु	**भक्ताः**	= भक्त	**पर्युपासते**	= भलीभाँति सेवन करते हैं,
ये	= जो (मुझमें)	**इदम्**	= इस	**ते**	= वे
श्रद्दधानाः	= श्रद्धा रखनेवाले (और)	**धर्म्यामृतम्**	= धर्ममय अमृतका	**मे**	= मुझे
मत्परमाः	= मेरे परायण हुए	**यथा, उक्तम्**	= जैसा कहा है, (वैसा ही)	**अतीव**	= अत्यन्त
				प्रियाः	= प्रिय हैं।

व्याख्या—**'ये तु'**—यहाँ **'ये'** पदसे भगवान्‌ने उन साधक भक्तोंका संकेत किया है, जिनके विषयमें अर्जुनने पहले श्लोकमें प्रश्न करते हुए **'ये'** पदका प्रयोग किया था। उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें सगुणकी उपासना करनेवाले साधकोंको अपने मतमें (**'ये'** और **'ते'** पदोंसे) **'युक्ततमाः'** बताया था। फिर उसी सगुण-उपासनाके साधन बताये और फिर सिद्ध भक्तोंके लक्षण बताकर अब उसी प्रसंगका उपसंहार करते हैं।

यहाँ **'ये'** पद उन परम श्रद्धालु भगवत्परायण साधकोंके लिये आया है। जो सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंको आदर्श मानकर साधन करते हैं।

'तु' पदका प्रयोग प्रकरणको अलग करनेके लिये किया जाता है। यहाँ सिद्ध भक्तोंके प्रकरणसे साधक भक्तोंके प्रकरणको अलग करनेके लिये **'तु'** पदका प्रयोग हुआ है। इस पदसे ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्ध भक्तोंकी अपेक्षा साधक भक्त भगवान्‌को विशेष प्रिय हैं।

'श्रद्दधानाः'—भगवत्प्राप्ति हो जानेके कारण सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें श्रद्धाकी बात नहीं आयी; क्योंकि जबतक नित्यप्राप्त भगवान्‌का अनुभव नहीं होता, तभीतक श्रद्धाकी जरूरत रहती है। अतः इस पदको श्रद्धालु साधक भक्तोंका ही वाचक मानना चाहिये। ऐसे श्रद्धालु भक्त भगवान्‌के धर्ममय अमृतरूप उपदेशको (जो भगवान्‌ने तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक कहा है) भगवत्प्राप्तिके उद्‌देश्यसे अपनेमें उतारनेकी चेष्टा किया करते हैं।

यद्यपि भक्तिके साधनमें श्रद्धा और प्रेमका तथा ज्ञानके साधनमें विवेकका महत्त्व होता है, तथापि इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भक्तिके साधनमें विवेकका और ज्ञानके साधनमें श्रद्धाका महत्त्व ही नहीं है। वास्तवमें श्रद्धा और विवेककी सभी साधनोंमें बड़ी आवश्यकता है। विवेक होनेसे भक्ति-साधनमें तेजी आती है। इसी प्रकार शास्त्रोंमें तथा परमात्मतत्त्वमें श्रद्धा होनेसे ही ज्ञान-साधनका पालन हो सकता है। इसलिये भक्ति और ज्ञान दोनों ही साधनोंमें श्रद्धा और विवेक सहायक हैं।

'मत्परमाः'—साधक भक्तोंका सिद्ध भक्तोंमें अत्यन्त पूज्यभाव होता है। उनकी सिद्ध भक्तोंके गुणोंमें श्रेष्ठ बुद्धि होती है। अतः वे उन गुणोंको आदर्श मानकर आदरपूर्वक उनका अनुसरण करनेके लिये भगवान्‌के परायण होते हैं। इस प्रकार भगवान्‌का चिन्तन करनेसे और भगवान्‌पर ही निर्भर रहनेसे वे सब गुण उनमें स्वतः आ जाते हैं।

भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके पचपनवें श्लोकमें **'मत्परमः'** पदसे और इसी (बारहवें) अध्यायके छठे श्लोकमें **'मत्पराः'** पदसे अपने परायण होनेकी बात विशेषरूपसे कहकर अन्तमें पुनः उसी बातको इस श्लोकमें **'मत्परमाः'** पदसे कहा है। इससे सिद्ध होता है कि भक्तियोगमें भगवत्परायणता मुख्य है। भगवत्परायण होनेपर भगवत्कृपासे अपने-आप साधन होता है और असाधन-(साधनके विघ्नों-) का नाश होता है।

'धर्म्यामृतमिदं यथोक्तम्'—सिद्ध भक्तोंके उनतालीस लक्षणोंके पाँचों प्रकरण धर्ममय अर्थात् धर्मसे ओतप्रोत हैं। उनमें किंचिन्मात्र भी अधर्मका अंश नहीं है। जिस साधनमें साधन-विरोधी अंश सर्वथा नहीं होता, वह साधन अमृत-तुल्य होता है। पहले कहे हुए लक्षण समुदायके धर्ममय होनेसे तथा उसमें साधन-विरोधी कोई बात न होनेसे ही उसे **'धर्म्यामृत'** संज्ञा दी गयी है।

साधनमें साधन-विरोधी कोई बात न होते हुए भी जैसा पहले कहा गया है, ठीक वैसा-का-वैसा धर्ममय अमृतका सेवन तभी सम्भव है, जब साधकका उद्‌देश्य किंचिन्मात्र भी धन, मान, बड़ाई, आदर, सत्कार, संग्रह, सुखभोग आदि न होकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही हो।

प्रत्येक प्रकरणके सब लक्षण धर्म्यामृत हैं। अतः साधक जिस प्रकरणके लक्षणोंको आदर्श मानकर साधन करता है, उसके लिये वही धर्म्यामृत है।

धर्म्यामृतके जो **'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः'''''** आदि लक्षण बताये गये हैं, वे आंशिकरूपसे साधकमात्रमें रहते हैं और इनके साथ-साथ कुछ दुर्गुण-दुराचार भी रहते हैं। प्रत्येक प्राणीमें गुण और अवगुण दोनों ही रहते हैं, फिर भी

अवगुणोंका तो सर्वथा त्याग हो सकता है, पर गुणोंका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। कारण कि साधन और स्वभावके अनुसार सिद्ध पुरुषमें गुणोंका तारतम्य तो रहता है; परन्तु उनमें गुणोंकी कमीरूप अवगुण किंचिन्मात्र भी नहीं रहता। गुणोंमें न्यूनाधिकता रहनेसे उनके पाँच विभाग किये गये हैं; परन्तु अवगुण सर्वथा त्याज्य हैं; अतः उनका विभाग हो ही नहीं सकता।

साधक सत्संग तो करता है, पर साथ-ही-साथ कुसंग भी होता रहता है। वह संयम तो करता है, पर साथ-ही-साथ असंयम भी होता रहता है। वह साधन तो करता है, पर साथ-ही-साथ असाधन भी होता रहता है। जबतक साधनके साथ असाधन अथवा गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तबतक साधककी साधना पूर्ण नहीं होती। कारण कि असाधनके साथ साधन अथवा अवगुणोंके साथ गुण उनमें भी पाये जाते हैं, जो साधक नहीं है। इसके सिवाय जबतक साधनके साथ असाधन अथवा गुणोंके साथ अवगुण रहते हैं, तबतक साधकमें अपने साधन अथवा गुणोंका अभिमान रहता है, जो आसुरी सम्पत्तिका आधार है। इसलिये धर्म्यामृतका यथोक्त सेवन करनेके लिये कहा गया है। तात्पर्य यह है कि इसका ठीक वैसा ही पालन होना चाहिये, जैसा वर्णन किया गया है। अगर धर्म्यामृतके सेवनमें दोष (असाधन) भी साथ रहेंगे तो भगवत्प्राप्ति नहीं होगी। अतः इस विषयमें साधकको विशेष सावधान रहना चाहिये। यदि साधनमें किसी कारणवश आंशिकरूपसे कोई दोषमय वृत्ति उत्पन्न हो जाय, तो उसकी अवहेलना न करके तत्परतासे उसे हटानेकी चेष्टा करनी चाहिये। चेष्टा करनेपर भी न हटे, तो व्याकुलतापूर्वक प्रभुसे प्रार्थना करनी चाहिये।

जितने सद्गुण, सदाचार, सद्भाव आदि हैं, वे सब-के-सब 'सत्'-(परमात्मा-) के सम्बन्धसे ही होते हैं। इसी प्रकार दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाव आदि सब 'असत्'के सम्बन्धसे ही होते हैं। दुराचारी-से-दुराचारी पुरुषमें भी सद्गुण-सदाचारका सर्वथा अभाव नहीं होता; क्योंकि 'सत्'-(परमात्मा-)का अंश होनेके कारण जीवमात्रका 'सत्'से नित्यसिद्ध सम्बन्ध है। परमात्मासे सम्बन्ध रहनेके कारण किसी-न-किसी अंशमें उसमें सद्गुण-सदाचार रहेंगे ही। परमात्माकी प्राप्ति होनेपर असत्से सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और दुर्गुण, दुराचार, दुर्भाव आदि सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

सद्गुण-सदाचार-सद्भाव भगवान्की सम्पत्ति है। इसलिये साधक जितना ही भगवान्के सम्मुख अथवा भगवत्परायण होता जायगा, उतने ही अंशमें स्वतः सद्गुण-सदाचार-सद्भाव प्रकट होते जायँगे और दुर्गुण-दुराचार-दुर्भाव नष्ट होते जायँगे।

राग-द्वेष, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदि अन्तःकरणके विकार हैं, धर्म नहीं (गीता—तेरहवें अध्यायका छठा श्लोक)। धर्मीके साथ धर्मका नित्य-सम्बन्ध रहता है। जैसे, सूर्यरूप धर्मीके साथ उष्णतारूप धर्मका नित्य-सम्बन्ध रहता है, जो कभी मिट नहीं सकता। अतः धर्मीके बिना धर्म तथा धर्मके बिना धर्मी नहीं रह सकता। काम-क्रोधादि विकार साधारण मनुष्यमें भी हर समय नहीं रहते, साधन करनेवालेमें कम होते रहते हैं और सिद्ध पुरुषमें तो सर्वथा ही नहीं रहते। यदि ये विकार अन्तःकरणके धर्म होते, तो हर समय एकरूपसे रहते और अन्तःकरण-(धर्मी-) के रहते हुए कभी नष्ट नहीं होते। अतः ये अन्तःकरणके धर्म नहीं, प्रत्युत आगन्तुक (आने-जानेवाले) विकार हैं। साधक जैसे-जैसे अपने एकमात्र लक्ष्य भगवान्की ओर बढ़ता है, वैसे-ही-वैसे राग-द्वेषादि विकार मिटते जाते हैं और भगवान्को प्राप्त होनेपर उन विकारोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है।

गीतामें जगह-जगह भगवान्ने '**तयोर्न वशमागच्छेत्**' (३।३४), '**रागद्वेषवियुक्तैः**' (२।६४), '**रागद्वेषौ व्युदस्य**' (१८। ५१) आदि पदोंसे साधकोंको इन राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा त्याग करनेके लिये कहा है। यदि ये (राग-द्वेषादि) अन्तःकरणके धर्म होते तो अन्तःकरणके रहते हुए इनका त्याग असम्भव होता और असम्भवको सम्भव बनानेके लिये भगवान् आज्ञा भी कैसे दे सकते थे?

गीतामें सिद्ध महापुरुषोंको राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त बताया गया है। जैसे, इसी अध्यायके तेरहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक जगह-जगह भगवान्ने सिद्ध भक्तोंको राग-द्वेषादि विकारोंसे सर्वथा मुक्त बताया है। इसलिये भी ये विकार ही सिद्ध होते हैं, अन्तःकरणके धर्म नहीं। असत्से सर्वथा विमुख होनेसे उन सिद्ध महापुरुषोंमें ये विकार लेशमात्र भी नहीं रहते। यदि अन्तःकरणमें ये विकार बने रहते, तो फिर वे मुक्त किससे होते?

जिसमें ये विकार लेशमात्र भी नहीं हैं, ऐसे सिद्ध महापुरुषके अन्तःकरणके लक्षणोंको आदर्श मानकर भगवत्प्राप्तिके लिये उनका अनुसरण करनेके लिये भगवान्ने उन लक्षणोंको यहाँ '**धर्म्यामृतम्**' के नामसे सम्बोधित किया है।

'**पर्युपासते**'—साधक भक्तोंकी दृष्टिमें भगवान्‌के प्यारे सिद्ध भक्त अत्यन्त श्रद्धास्पद होते हैं। भगवान्‌की तरफ स्वाभाविक आकर्षण (प्रियता) होनेके कारण उनमें दैवी सम्पत्ति अर्थात् सद्‌गुण (भगवान्‌के होनेसे) स्वाभाविक ही आ जाते हैं। फिर भी साधकोंका उन सिद्ध महापुरुषोंके गुणोंके प्रति स्वाभाविक आदरभाव होता है और वे उन गुणोंको अपनेमें उतारनेकी चेष्टा करते हैं। यही साधक भक्तोंद्वारा उन गुणोंका अच्छी तरहसे सेवन करना, उनको अपनाना है।

इसी अध्यायके तेरहवेंसे उन्नीसवें श्लोकतक, सात श्लोकोंमें 'धर्म्यामृत' का जिस रूपमें वर्णन किया गया है, उसका ठीक उसी रूपमें श्रद्धापूर्वक अच्छी तरह सेवन करनेके अर्थमें यहाँ '**पर्युपासते**' पद प्रयुक्त हुआ है। अच्छी तरह सेवन करनेका तात्पर्य यही है कि साधकमें किंचिन्मात्र भी अवगुण नहीं रहने चाहिये। जैसे, साधकमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति करुणाका भाव पूर्णरूपसे भले ही न हो, पर उसमें किसी प्राणीके प्रति अकरुणा-(निर्दयता-) का भाव बिलकुल भी नहीं रहना चाहिये। साधकोंमें ये लक्षण सांगोपांग नहीं होते, इसीलिये उनसे इनका सेवन करनेके लिये कहा गया है। सांगोपांग लक्षण होनेपर वे सिद्धकी कोटिमें आ जायँगे।

साधकमें भगवत्प्राप्तिकी तीव्र उत्कण्ठा और व्याकुलता होनेपर उसके अवगुण अपने-आप नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि उत्कण्ठा और व्याकुलता अवगुणोंको खा जाती है तथा उसके द्वारा साधन भी अपने-आप होने लगता है। इस कारण उसको भगवत्प्राप्ति जल्दी और सुगमतासे हो जाती है।

'**भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः**'—भक्तिमार्गपर चलनेवाले भगवदाश्रित साधकोंके लिये यहाँ '**भक्ताः**' पद प्रयुक्त हुआ है।

भगवान्‌ने ग्यारहवें अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें वेदाध्ययन, तप, दान, यज्ञ आदिसे अपने दर्शनकी दुर्लभता बताकर चौवनवें श्लोकमें अनन्यभक्तिसे अपने दर्शनकी सुलभताका वर्णन किया। फिर पचपनवें श्लोकमें अपने भक्तके लक्षणोंके रूपमें अनन्यभक्तिके स्वरूपका वर्णन किया। इसपर अर्जुनने इसी (बारहवें) अध्यायके पहले श्लोकमें यह प्रश्न किया कि सगुण-साकारके उपासकों और निर्गुण-निराकारके उपासकोंमें श्रेष्ठ कौन है? भगवान्‌ने दूसरे श्लोकमें इस प्रश्नके उत्तरमें (सगुण-साकारकी उपासना करनेवाले) उन साधकोंको श्रेष्ठ बताया, जो भगवान्‌में मन लगाकर अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उनकी उपासना करते हैं। यहाँ उपसंहारमें उन्हीं साधकोंके लिये '**भक्ताः**' पद आया है।

उन साधक भक्तोंको भगवान् अपना 'अत्यन्त प्रिय' बताते हैं।

सिद्ध भक्तोंको 'प्रिय' और साधकोंको 'अत्यन्त प्रिय' बतानेके कारण इस प्रकार हैं—

(१) सिद्ध भक्तोंको तो तत्त्वका अनुभव अर्थात् भगवत्प्राप्ति हो चुकी है; किन्तु साधक भक्त भगवत्प्राप्ति न होनेपर भी श्रद्धापूर्वक भगवान्‌के परायण होते हैं। इसलिये वे भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय होते हैं।

(२) सिद्ध भक्त भगवान्‌के बड़े पुत्रके समान हैं।

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।

परन्तु साधक भक्त भगवान्‌के छोटे, अबोध बालकके समान हैं—

बालक सुत सम दास अमानी॥

(मानस ३। ४३। ४)

छोटा बालक स्वाभाविक ही सबको प्रिय लगता है। इसलिये भगवान्‌को भी साधक भक्त अत्यन्त प्रिय हैं।

(३) सिद्ध भक्तको तो भगवान् अपने प्रत्यक्ष दर्शन देकर अपनेको ऋणमुक्त मान लेते हैं, पर साधक भक्त तो (प्रत्यक्ष दर्शन न होनेपर भी) सरल विश्वासपूर्वक एकमात्र भगवान्‌के आश्रित होकर उनकी भक्ति करते हैं। अतः उनको अभीतक अपने प्रत्यक्ष दर्शन न देनेके कारण भगवान् अपनेको उनका ऋणी मानते हैं और इसीलिये उनको अपना अत्यन्त प्रिय कहते हैं।

परिशिष्ट भाव—कर्तव्यको 'धर्म' कहते हैं। जो धर्मसे विचलित, इधर-उधर नहीं होता, उसको 'धर्म्य' कहते हैं। सब कुछ भगवान् ही हैं—इसके समान दूसरा कोई सिद्धान्त है ही नहीं, इसलिये यह 'धर्म्य' है (गीता—नवें अध्यायका दूसरा श्लोक)।

श्रद्धा साधकमें होती है। सिद्धमें श्रद्धा नहीं होती, प्रत्युत अनुभव होता है; क्योंकि उसके अनुभवमें एक परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं, सब कुछ परमात्मा ही हैं, फिर वह श्रद्धा क्या करे! साधककी दृष्टिमें दूसरी सत्ता रहती है, इसलिये वह उपासना करता है (**पर्युपासते**) अर्थात् अपना जीवन वैसा बनाता है; परन्तु उसका भाव यह रहता है कि भगवान्‌के सिवाय अगर कुछ है तो वह भी भगवान्‌की ही लीला है।

दूसरी सत्ताकी मान्यता होते हुए भी साधक भगवान्‌के परायण रहता है और भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई उसका प्रेमास्पद नहीं होता, इसलिये वह भगवान्‌को अत्यन्त प्यारा होता है। जबतक उसको 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसका अनुभव नहीं होता, तबतक भगवान् उसके ऋणी रहते हैं!

श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

यावत् सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते। तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः॥

(११। २९। १७)

'जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा भाव अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—ऐसा वास्तविक भाव न होने लगे, तबतक इस प्रकार मन, वाणी और शरीरकी सभी वृत्तियों-(बर्ताव-) से मेरी उपासना करता रहे।'

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः॥

(११। २९। १८)

'पूर्वोक्त साधन करनेवाले भक्तका 'सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है'—ऐसा निश्चय हो जाता है। फिर वह इस अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) द्वारा सब प्रकारसे संशयरहित होकर सब जगह परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय अर्थात् 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह चिन्तन भी न रहे, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा ही दीखने लगें।'

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसम्वादमें 'भक्तियोग' नामक बारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ॥ १२॥

इस (बारहवें) अध्यायमें अनेक प्रकारके साधनों-सहित भगवद्भक्तिका वर्णन करके भक्तोंके लक्षण बताये गये हैं और इस अध्यायका उपक्रम तथा उपसंहार भी भगवद्भक्तिमें ही हुआ है। केवल तीसरे, चौथे और पाँचवें—तीन श्लोकोंमें ज्ञानके साधनका वर्णन है, पर वह भी भक्ति और ज्ञानकी परस्पर तुलना करके भक्तिको श्रेष्ठ बतानेके लिये ही है। इसीलिये इस अध्यायका नाम 'भक्तियोग' रखा गया है।

बारहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें '**अथ द्वादशोऽध्यायः**'के तीन, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके चार, श्लोकोंके दो सौ चौवालीस और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग दो सौ चौंसठ है।

(२) '**अथ द्वादशोऽध्यायः**' के सात, '**अर्जुन उवाच**' आदि पदोंके तेरह, श्लोकोंके छः सौ चालीस और पुष्पिकाके पैंतालीस अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग सात सौ पाँच है। इस अध्यायके सभी श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें दो उवाच हैं—'**अर्जुन उवाच**' और '**श्रीभगवानुवाच**।'

बारहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायके बीस श्लोकोंमेंसे—नवें श्लोकके तृतीय चरणमें '**भगण**' प्रयुक्त होनेसे '**भ-विपुला**'; उन्नीसवें श्लोकके तृतीय चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे '**न-विपुला**'; और बीसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' तथा तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे '**संकीर्ण-विपुला**' संज्ञावाले छन्द हैं। शेष सत्रह श्लोक ठीक '**पथ्यावक्त्र**' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।